Is jagat kee paheyle

इस जगत्‌की पहेली

(THE RIDDLE OF THIS WORLD)

श्रीअरविन्द

Arbindo

Sri Pratap Singh
Library
Srinagar.

Sri Arbindo - Granthmala
Calcutta

श्रीअरविन्द ग्रन्थमाला

४, हेयर स्ट्रीट

कलकत्ता

१९३७

1937

SPS
294.5 A 70 I
13430

भाषान्तरकार

मदनगोपाल गाड़ोदिया

acc: no: 13430

Rs 1-0-0 269

प्रकाशक

मदनगोपाल गाड़ोदिया

श्रीअरविन्द ग्रन्थमाला

४, हेयर स्ट्रीट, कलकत्ता

Sri Pratap Singh Library Srinagar.

मुद्रक

धनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर।

प्रथम संस्करण १०००

मूल्य ॥=) दस आना

प्रकाशकका वक्तव्य

इस पुस्तकमें श्रीअरविन्ददेवके कुछ ऐसे लेखोंका संग्रह है जो उन्होंने समय-समयपर अपने शिष्योंको अथवा योग और अध्यात्मके अन्य जिज्ञासुओंको, उनके प्रश्नोंके उत्तर-रूपसे लिखे हैं अथवा जिनमें यथा 'मिथ्या मन्द प्रभाकी उपत्यका' में, बाहरसे आये हुए सम्मत्यर्थ प्रेषित पत्रोंकी उन्होंने समीक्षा की है। ये लेख सर्वसाधारणके लिये उपयोगी हैं, इनमें कई ऐसे प्रश्नोंके उत्तर हैं जो आध्यात्मिक सत्य और अनुभूतिके विषयमें प्रायः उठा करते हैं; इसलिये इनको इस पुस्तकमें संकलित करके एक ही सामान्य नामसे प्रकाशित किया जाता है।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–महत्तर सत्य	१
२–परतत्त्व वर्ग	५
३–लोकसंस्थान-क्रम	११
४–आरोहण और अवरोहणकी गति ...	१९
५–पाश्चात्य दर्शन और योग	२७
६–अज्ञेयवादियों और वेदान्तियोंका अज्ञे... ...	३७
७–संशय और भगवान्	४३
८–मिथ्या मन्द प्रभाकी उपत्यका ...	४७
९–मध्यवर्ती क्षेत्र	६१
१०–श्रद्धाका प्रश्न	८३
११–श्रीभगवान्‌का त्रिविध स्वरूप	८७
१२–कुछ आध्यात्मिक विकल्प	९१
१३–पुनर्जन्म और व्यक्तित्व	९९
१४–इस जगत्‌की पहेली	१०५

इस जगत्की पहेली

श्रीहरिः

महत्तर सत्य

इससे हमारा अभिप्राय विज्ञानमय चैतन्यके पृथ्वीपर अवतरित होनेसे है। विज्ञानलोकसे नीचेके सब सत्य (मनोमय लोकका उच्चतम आध्यात्मिक सत्य भी, जो अबतकके प्रकाशित सत्योंमें सर्वोच्च है) या तो आंशिक हैं या सापेक्ष हैं, अथवा अपूर्ण और जड़ जीवनका रूपान्तर करनेमें

असमर्थ हैं; अधिक-से-अधिक ये इस जीवनको केवल सुधार सकते याने प्रभावित कर सकते हैं। विज्ञान (Supermind) वह सत्यं ऋतं बृहत् है जिसका प्राचीन ऋषिगण वर्णन कर गये हैं; अबतक उसकी झलक मिलती रही है, कभी-कभी कोई अप्रत्यक्ष प्रभाव या आवेश भी होता रहा है, पर पार्थिव चैतन्यमें इसका अवतरण कराकर यहाँ यह स्थापित नहीं किया गया है। उसका इस प्रकार अवतरण कराना हमारे योगका लक्ष्य है।

परन्तु इस विषयमें व्यर्थके तार्किक वाद-विवादमें पड़ना ठीक नहीं। विज्ञान क्या है, बुद्धि इसकी धारणा भी नहीं कर सकती; तब फिर जिसे बुद्धि जानती ही नहीं उसके सम्बन्धमें तर्क चलानेमें क्या रखा है? तर्कके द्वारा नहीं, बल्कि सतत अनुभव, चैतन्यके विकास और ज्योतिके विस्तारके द्वारा ही हम बुद्धिके परे चैतन्यके उन उच्च स्तरोंमें पहुँच सकते हैं जहाँसे हम भागवत प्रज्ञाको देखना आरम्भ कर सकते हैं। ये स्तर भी विज्ञान नहीं हैं पर ये उसका किञ्चित् ज्ञान ग्रहण कर सकते हैं।

वैदिक ऋषि पृथ्वीके लिये विज्ञानको कदापि प्राप्त नहीं हुए और शायद उन्होंने इसका कोई प्रयत्न भी नहीं किया।

उन्होंने व्यक्तिगत रूपसे विज्ञानमय लोकमें पहुँचनेकी चेष्टा की पर उसे उन्होंने नीचे नहीं उतारा न उसे पार्थिव चैतन्यका स्थायी भाग ही बनाया। उपनिषदोंमें कुछ ऐसे मन्त्र हैं जिनमें यह संकेत किया गया है कि इस पार्थिव शरीरको रखते हुए सूर्य-(विज्ञानके प्रतीक) मण्डलको भेदकर जाना असम्भव है। इस विफलताके कारण ही भारतका आध्यात्मिक प्रयास मायावादमें पर्यवसित हुआ। हमारा योग आरोहण और अवतरणकी द्विविध गतिवाला है; इसमें साधक चैतन्यके क्रमशः उच्चतर स्तरोंपर आरोहण करता है, पर साथ ही वह उन लोकोंकी शक्तिको नीचे केवल मन और प्राणमें ही नहीं, बल्कि अन्तमें शरीरमें भी उतार लाता है। इन स्तरोंमें सर्वोच्च स्तर विज्ञान है और वही इस योगका लक्ष्य है। उसका जब अवतरण हो सकेगा तभी पार्थिव चैतन्यका दिव्य रूपान्तर सम्भावित होगा।

४ मई १९३०

परतत्त्व-वर्ग

हम नहीं समझते कि आध्यात्मिक और गूढ ज्ञानके किसी सम्प्रदायका किसी दूसरे सम्प्रदायके साथ पूर्ण पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्र सर्वत्र मिल ही सकता है। सभी सम्प्रदाय एक ही विषयका प्रतिपादन करते हैं; पर सबकी विचारभूमिकाएँ भिन्न-भिन्न हैं, दृष्टिपथ भिन्न-भिन्न हैं, दृष्ट और अनुभूत वस्तुकी मानसिक धारणाएँ भिन्न-भिन्न हैं,

व्यावहारिक हेतु भिन्न-भिन्न हैं और इस कारण निरीक्षित, निर्मित और अनुसृत मार्ग भिन्न-भिन्न हैं; इसलिये भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय हैं और हर सम्प्रदायकी अपनी पद्धति और अपनी विधि है।

प्राचीन भारतीय सम्प्रदायमें केवल एक ही त्रिक पर-तत्त्व है—सच्चिदानन्द। अथवा यदि तुम परार्धको परतत्त्व कहते हो तो वहाँ ये तीन लोक हैं—सत्-लोक, चित्-लोक और आनन्द-लोक। विज्ञान चौथा लोक कहा जा सकता है। कारण, यह उन तीनोंके सहारे है और परार्द्धमें ही है। भारतीय सम्प्रदायोंने चैतन्यकी दो सर्वथा भिन्न शक्तियों और स्तरोंको पृथक्-पृथक्रूपसे नहीं देखा—इनमें एक वह है जिसे हम अधिमानस (Overmind) कह सकते हैं और दूसरा वह जो वास्तविक विज्ञान अथवा भागवत प्रज्ञा है। यही कारण है कि वे माया (अधिमानस-शक्ति अथवा विद्या-अविद्या) के सम्बन्धमें बड़े चक्करमें पड़ गये और उसे ही उन्होंने परा सृष्टिशक्ति मान लिया। पर यह अर्ध-प्रकाशमात्र था और यहाँ आकर रुक जानेके कारण रूपान्तर-साधनकी कुंजी उन्हें नहीं प्राप्त हुई—यद्यपि वैष्णव और तान्त्रिक योग-सम्प्रदायोंने इसे प्राप्त करनेका पुनः प्रयास किया और कभी-कभी वे सफलताके किनारे भी पहुँच गये थे। गतिशील भागवत सत्यको ढूँढ़नेके जो-जो प्रयास

हुए उनमें यही रोड़ा आकर अटकता रहा; हमें कोई भी ऐसा सम्प्रदाय ज्ञात नहीं जिसने अधिमानसकी ज्योतिके अवतरणका स्पर्श होते ही यह कल्पना न कर ली हो कि यही सत्य प्रकाश है, परम ज्ञान है; और इसीसे ये लोग या तो यहीं आकर रुक गये और आगे नहीं बढ़ सके, या उन्होंने यह मान लिया कि यह भी माया वा लीला है और इसलिये एकमात्र कार्य अब यही रह जाता है कि इसका अतिक्रमण कर परब्रह्मकी निश्चल, अक्रिय नीरवतामें पैठा जाय।

'परतत्त्ववर्ग' पदोंके प्रयोगका अभिप्राय यहाँ शायद वर्त्तमान सृष्टिके तीन मूलतत्त्वोंसे है। भारतीय योगसम्प्रदायमें ये तत्त्व ईश्वर, शक्ति और जीव हैं अथवा सच्चिदानन्द, माया और जीव। परन्तु हमारे योगसम्प्रदायमें जिसका उद्देश्य वर्त्तमान सृष्टिके परेकी शक्तिको प्राप्त करना है, ये तत्त्व तो गृहीत ही हैं और चैतन्यके विविध स्तरोंके रूपमें देखनेपर चैतन्यके इन तीन उच्चतम लोकोंको—अर्थात् आनन्द (जिसपर सत् और चित् स्थित हैं), विज्ञान और अधिमानसको—पर तत्त्व कह सकते हैं। अधिमानस अपरार्धके ऊर्ध्वतम भागमें है, और यदि तुम विज्ञानतक पहुँचना चाहो तो तुम्हें अधिमानससे होकर उस पार जाना होगा; फिर इसके भी और ऊपर और विज्ञानके परे सच्चिदानन्दके लोक हैं।

तुम कहते हो कि अधिमानसके नीचे एक खाई है। परन्तु सचमुच क्या वहाँ कोई खाई है—मानव-अबोधके सिवाय क्या कोई और भी खाई है ? इस सम्पूर्ण लोकपरम्परा-में या चैतन्यके इन विभिन्न स्तरोंमें कहीं भी कोई गड्ढा या खाई वास्तवमें नहीं है, सब स्तर सदा ही एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं और कोई भी सीढ़ी-सीढ़ी उनपर चढ़ सकता है। अधिमानस और मानवमानसके मध्यमें उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रकाशमान कई स्तर हैं। परन्तु ये मानवबुद्धिके बोधके परे हैं—केवल दो-एक स्तरोंको छोड़कर जो निम्नतम स्तर हैं और जिनका कुछ सम्पर्क मानवबुद्धिको प्राप्त होता है, ये बुद्धिके लिये बोधातीत हैं और इस कारण बुद्धि इन्हें एक प्रकारकी श्रेष्ठ अबोधावस्था या अविद्या मान लेती है। एक उपनिषत्में ईश्वर-चैतन्य-को सुषुप्ति कहा है। कारण, साधारणतया समाधिकी अवस्था-में ही मनुष्य इसमें प्रवेश करता है, जबतक कि वह अपने जाग्रत् चैतन्यको उच्चतर स्थितिमें ले जानेका अभ्यासी नहीं होता।

वास्तवमें जीव और उसके अंगोंकी रचनामें दो प्रणालियाँ एक संग काम कर रही हैं—एक चक्राकार है जिसमें कई चक्र और कोष हैं और बीचोबीच केन्द्रस्थानमें हृत्पुरुष है, और दूसरी प्रणाली है खड़ी, आरोहणावरोहणात्मक,

जैसे सीढ़ियोंकी चढ़ाई हो, जिसमें एकके ऊपर एक ऐसे अनेक लोकोंका ताँता लगा है और सबके ऊपर विज्ञान-अधिमानस है जो मानव-अवस्थासे भागवत सत्तामें पहुँचनेके संक्रमण-मार्गमें एक बड़ी ही जटिल ग्रन्थिकी तरह है। इस अवस्थान्तरके साथ-साथ यदि रूपान्तर भी सिद्ध करना हो तो एक ही रास्ता है। पहले अंदरकी ओर परिवर्त्तन होना जरूरी है, अन्तस्तम हृत्पुरुषको प्राप्त करने और उसको सामने ले आनेके लिये अंदर प्रवेश करना होगा; साथ ही प्रकृतिके आभ्यन्तर मानस, आभ्यन्तर प्राण तथा आभ्यन्तर भौतिक अंगोंका उद्घाटन करते जाना होगा। तत्पश्चात् आरोहण करना होगा अर्थात् ऊपरकी ओर परिवर्त्तन करके फिर निम्नतर अंगोंका परिवर्त्तन करनेके लिये नीचे उतरना होगा। जब साधक अन्तःपरिवर्त्तन कर लेता है तब वह सम्पूर्ण निम्न प्रकृतिको हृत्पुरुषके द्वारा ऐसा आप्यायित कर लेता है कि वह भागवत रूपान्तरके लिये प्रस्तुत हो जाय। ऊर्ध्व-गमन करनेमें जीव मानव-मानसका अतिक्रमण करता है और आरोहणकी प्रत्येक अवस्थामें पूर्वकी चेतना परिवर्त्तित होकर नवचैतन्यको प्राप्त होती है और समग्र प्रकृतिमें यह नवीन चेतना सञ्चरित होती है। इस प्रकार बुद्धिके परे प्रबुद्ध मानससे होकर अन्तर्ज्ञानमय चैतन्यमें पहुँचकर

इस जगत्‌की पहेली

हम प्रत्येक वस्तुको बुद्धिक्षेत्रसे अथवा बुद्धिरूप यन्त्रके द्वारा नहीं, बल्कि अन्तर्ज्ञानकी उच्चतर भूमिसे और अन्तर्ज्ञानीभूत संकल्प, प्रतीति, भाव, वेदन और शारीरिक स्पर्शके द्वारा देखना आरम्भ करते हैं। इस प्रकार अन्तर्ज्ञानसे ऊर्ध्वतर अधिमानसकी ऊँचाईमें प्रवेश करनेपर फिर नवीन परिवर्त्तन होता है और यहाँ हम प्रत्येक वस्तुको अधिमानस-चैतन्यसे तथा अधिमानस विचार, दृष्टि, संकल्प, भाव, वेदन, शक्ति और स्पर्शसे ओतप्रोत मन, हृदय, प्राण और शरीरके द्वारा देखते और अनुभव करते हैं। पर अन्तिम परिवर्त्तन विज्ञानगत है। कारण, एक बार जहाँ वहाँ पहुँचे—एक बार जहाँ प्रकृति विज्ञानभूत हो गयी, वहाँ हम अज्ञानको पार कर जाते हैं, वहाँ फिर चैतन्यके परिवर्त्तनकी और आवश्यकता नहीं रहती; यद्यपि भागवत उन्नतिक्रम इसके आगे और भी है, अनन्त विकासकी सम्भावना इसके आगे भी बनी हुई है।

१६ अप्रैल १९३१

लोकसंस्थान-क्रम

यदि हम विभिन्न लोकोंके इस क्रमविन्यासको एक साथ देखें तो हमें ये एक ही महत् विविध और सुसम्बद्ध गतिके रूपमें दिखायी देते हैं; उच्चतर लोक निम्नतर लोकोंपर अपना प्रभाव डालते हैं और निम्नतर लोक उच्चतर लोकोंसे प्रेरित होकर क्रियान्वित होते हैं और अपने अंदर

अपने नियमके अनुरूप कोई ऐसी चीज विकसित या प्रकट करते हैं जो उच्चतर लोककी शक्ति और उस शक्तिके कार्यके अनुरूप होती है। इस जड़ जगत्ने प्राणमय लोकके प्रभावसे प्रेरित होकर प्राणका विकास किया है और मनोमय लोकके प्रभावसे प्रेरित होकर मनका विकास किया है। अब यह विज्ञानमय लोकके प्रभावसे प्रेरित होकर विज्ञानका विकास करनेमें प्रयत्नवान् है। इसी बातको विस्तारपूर्वक यों कह सकते हैं कि किसी उच्चतर लोककी विशिष्ट प्रवृत्तियाँ, गतियाँ, शक्तियाँ और सत्ताएँ अपने-अपने अनुरूप आकार निर्माण करनेके लिये अपने-आपको निम्नतर लोकमें उतार सकती हैं, और फिर ये आकार उन्हें जड़ जगत्के साथ जोड़ देंगे और इस तरह वे यहाँ अपनी क्रियाको प्रत्युत्पादित करेंगी। और यहाँ जिस-जिस पदार्थकी सृष्टि हुई है, उसके अपने सूक्ष्मतर कोष अथवा रूप होते हैं जो उसको धारण करते हैं जिनसे उनकी स्थिति बनी रहती है तथा उन शक्तियोंसे संयुक्त रखते हैं जो ऊर्ध्वसे कार्य करती हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्यके अपने स्थूल अन्नमय शरीरके अतिरिक्त सूक्ष्मतर कोष अथवा शरीर भी होते हैं, जिनके द्वारा वह परदेकी आड़में चैतन्यके जड़ातीत स्तरोंके साथ सीधे संयुक्त रहता है और उनकी शक्तियों, गतियों और सत्ताओंसे प्रभावित हो सकता है। जो कुछ प्राणोंमें घटित होता है उसके पीछे गुह्य प्राणमय लोकोंकी पूर्वस्थित

गतियाँ और रूप सदा विद्यमान रहते हैं; जो कुछ मनमें घटित होता है वह गुह्य मनोमय लोकोंकी पूर्वस्थित गतियों और रूपोंमें पहलेसे ही कल्पित रहता है। यह पदार्थमात्रका एक ऐसा पहलू है जो कि जैसे-जैसे हम गतिशील योगमें अग्रसर होते जायँगे वैसे-वैसे अधिकाधिक स्पष्ट, स्थायी और विशिष्ट होता जायगा।

पर इन बातोंको शब्दशः बिल्कुल ऐसा ही नहीं समझना चाहिये। यह एक ऐसी सर्वतोमुखी निर्बाध अकुण्ठगति है जिसमें चाहे जो हो सकता है और इसलिये इसे साक्षी चैतन्यकी नमनशील और सूक्ष्म रीति या बोधशक्तिके द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये। यह किसी न्यायसूत्र या गणितके नियमके अंदर आबद्ध नहीं हो सकती। इस विषयमें दो-तीन बातोंको अवश्य ध्यानमें रखना होगा जिसमें यह नमनीयता हमारी दृष्टिके ओट न हो।

पहली बात यह कि प्रत्येक लोक अपने ऊपरके तथा नीचेके अन्य लोकोंसे सम्बद्ध रहते हुए भी स्वयं भी एक स्वतन्त्र जगत् है जिसमें उसकी अपनी गतियाँ, शक्तियाँ, सत्ताएँ, वर्ग और रूप हैं जो और किसीके लिये नहीं बल्कि अपने लिये तथा उस लोकके लिये ही हैं जो अपने नियमोंके अधीन है और अपने-आपको ही व्यक्त करनेके लिये है, लोकपरम्पराके अन्य अंगोंका आपाततः उसे कोई ध्यान

नहीं रहता। उदाहरणार्थ प्राणमय अथवा सूक्ष्म भौतिक लोकको हम देखें तो हमें उनके अंदर उनकी अनेक कक्षाएँ देख पड़ती हैं जो अपने-आपमें स्थित हैं, जड़ जगत्‌से उनका कोई सम्बन्ध नहीं, न कोई गति उनकी ऐसी है जो जड़ जगत्‌पर अपना कोई असर डाले, भौतिक-रूपमें उनका अपना-सा कोई भाव व्यक्त करना तो दूरकी बात है। अधिक-से-अधिक हम यह कह सकते हैं कि प्राणमें, सूक्ष्म भौतिक अथवा अन्य किसी लोकमें किसी वस्तुकी स्थिति एक ऐसी सम्भावना उत्पन्न करती है जिससे उस वस्तु-का अनुरूप भाव स्थूल जगत्‌में व्यक्त करनेकी गति उत्पन्न होती है। परन्तु यह सम्भावना अचल है, छिपी हुई है, इसे गतिशील बनाने या भौतिक सृष्टि करनेको प्रेरित करनेके लिये और भी कुछ होना आवश्यक होता है। वह यही है कि जड़ जगत्‌से ही उसके लिये पुकार हो अर्थात् कोई शक्ति या कोई व्यक्ति ऐसा हो जो इस जड़ जगत्‌में रहते हुए पारभौतिक शक्ति या जगत् या उसके किसी अंशसे सम्बद्ध होकर उसे इस जगत्‌के जीवनमें ले आनेको उद्यत हो। अथवा प्राणलोक या अन्य लोकमें ही ऐसी कोई स्फूर्ति हो सकती है, उदाहरणार्थ कोई प्राणमय सत्ता ही अपना कार्य पृथ्वीपर विस्तृत करने और वहाँ अपना राज्य स्थापित करने या अपनी उन वृत्तियोंका खेल खेलनेको प्रवृत्त हो सकती है जिन्हें लिये हुई वह अपने लोकमें स्थित है। अथवा ऊपरसे

कोई ऐसा भार पड़ सकता है, अर्थात् कोई विज्ञानमय या मनोमय शक्ति ही ऊपरसे नीचे प्राणमय लोकमें अपने-आपको निरूपित कर सकती है और वहाँके रूपों या गतियोंका ऐसा विकास कर सकती है जिससे जड़ जगत्में उसकी सृष्टि होनेका साधन-निर्माण हो सके। अथवा ये सभी बातें एक साथ भी हो सकती हैं और उस अवस्थामें ऐसे सृष्टि-कर्मकी सिद्धि अत्यधिक सम्भावित होती है।

दूसरी बात, जो उपर्युक्त कथनसे आप ही सिद्ध होती है, यह है कि इस भूसत्ताके साथ उन अन्तरिक्षादि लोकोंके कार्यके एक मर्यादित अंशमात्रका ही सम्बन्ध है। परन्तु इतनेसे भी बहुतसी सम्भावनाओंकी ही सृष्टि होती है, जिन सबको यह भूर्लोक एक साथ न तो व्यक्त कर सकता है न अपनी तदपेक्षया न्यून नम्य पद्धतियोंमें धारण ही कर सकता है। ये सभी सम्भावनाएँ कार्यमें परिणत नहीं होतीं; कुछ तो सर्वथा विफल होती हैं और अधिक-से-अधिक कोई भावमात्र छोड़ जाती हैं जिसका कुछ भी परिणाम नहीं होता; कुछ विशेष सचेष्ट होती हैं, पर फिर प्रतिहत होकर पराभूत हो जाती हैं, और इस तरह कुछ काल-तक कार्यक्षेत्रमें रहकर भी परिणामतः कुछ भी नहीं रह जातीं। कुछ अर्धांशमात्र व्यक्त होती हैं, और प्रायः यही हुआ करता है, विशेष करके इस कारणसे कि इन

प्राणमय या अन्य पारभौतिक शक्तियोंको न केवल भौतिक चेतना और जड़भूतका ही सामना करके उन्हें जीतना पड़ता है बल्कि परस्परके अन्तर्गत प्रतिरोधका भी सामना करना और उसे जीतना पड़ता है। कुछ सम्भावनाएँ अवश्य ही ऐसी होती हैं जो अधिक पूर्ण और सफल सर्जनमें समर्थ होती हैं; यहाँतक कि यदि तुम इस सर्जनकी उसके उच्चतर स्तरस्थ मूलके साथ तुलना करो, तो तुम्हें दोनोंमें बहुत कुछ सादृश्य-सा प्रतीत होगा अथवा उस मूलका यह हूबहू नमूना-सा ही देख पड़ेगा या ऐसा प्रतीत होगा कि यह तो उस पारभौतिक वस्तुका ठीक भौतिक प्रतीक ही है। परन्तु यहाँ भी यह सादृश्य केवल बाह्य रूपमें ही है; बात यह है कि किसी वस्तुका कोई दूसरी वस्तु बन जाना, व्यक्त होनेके लिये किसी दूसरे छन्दसे युक्त हो जाना, कुछ-से-कुछ और ही हो जाना है। वह एक नवीन वस्तु ही होती है जो इस तरह व्यक्त होती है और यही तो बात है जो उस सृष्टिकी सार्थकता है। उदाहरणार्थ, पृथ्वीपर विज्ञानमय सृष्टिकी उपयोगिता ही क्या हो सकती है यदि वह वही चीज हो जो चीज विज्ञान-मय लोकमें विज्ञानसृष्टि है ? तत्त्वतः चीज तो वह वही है पर फिर भी कोई नयी चीज है, भगवान्‌का एक नवीन समरविजयी आत्माविष्करण है उस अवस्थामें जो अवस्था अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि सूक्ष्म भौतिक सत्ता भूर्लोकके अति निकट ही है और प्रायः तत्सदृश ही है। तथापि वहाँकी स्थिति कुछ दूसरी है और वह चीज भी कुछ दूसरी ही है। उदाहरणार्थ, सूक्ष्म भौतिक सत्तामें एक प्रकारकी स्वतन्त्रता है, प्रवाहशीलता है, प्रगाढ़ता है, शक्ति है, वर्ण है, विशालता है तथा बहुविध क्रीडा है (वहाँ ऐसी हजारों चीजें हैं जो यहाँ नहीं हैं) जिसकी अभी पृथ्वीपर हमलोगोंके लिये कोई सम्भावना नहीं है। फिर भी यहाँ कोई ऐसी चीज है, भगवान्‌की कोई ऐसी सम्भूति-शक्ति है जो उस विशालतर स्वतन्त्रतावाले लोकमें नहीं है। यह वही चीज है जिसके कारण यहाँ सृष्टि करना अधिक कठिन होता है पर अन्तमें जिसके कारण सम्पूर्ण आयास सार्थक होता है।

१ सितम्बर १९३०

आरोहण और अवरोहणकी गति

ये जो दो गतियाँ हैं जिनके बाह्यतः दिखायी देनेवाले परस्पर-विरोधसे तुम्हारी बुद्धि विमूढ़ होती है, ये दोनों एक ही चैतन्यके ओरछोर हैं। इन गतियोंको, जो अभी एक-दूसरेसे पृथक् हैं, एक-दूसरेके साथ युक्त होना होगा, यदि प्राणशक्तिको अपने कार्यमें अधिकाधिक सिद्धि और पूर्णता प्राप्त होनी है अथवा वह रूपान्तर प्राप्त

होना है जिसकी हमलोग आशा-प्रत्याशा कर रहे हैं ।

प्राणमय सत्ता और तदन्तर्गत जीवनीशक्ति इस गतिका एक छोर है; और दूसरे छोरपर परचैतन्यकी वह प्रच्छन्न क्रियाशक्ति है जिसके द्वारा भागवत सत्य कार्य कर सकता है, प्राणसत्ता और उसकी प्राणशक्तिको अपने हाथमें ले सकता है, और उसका इस संसारमें महत्तर कार्यके लिये उपयोग कर सकता है ।

प्राणमय सत्ताकी जीवनीशक्ति इस जड़ जगत् तथा भौतिक प्रकृतिमें भागवत शक्तिके सम्पूर्ण कार्यका अनिवार्य यन्त्र है । इसीलिये यह प्राणसत्ता जब दिव्य बनकर भागवत शक्तिका विशुद्ध और सुदृढ़ यन्त्र हो लेती है, तभी भागवत जीवन सम्भव होता है । तभी भौतिक प्रकृतिका अव्यर्थ रूपान्तर होता है या बाह्य जगत्में नित्य-मुक्त सिद्ध भागवत स्वभाव-कर्म बनता है । अभी जो हमारे करण-उपकरण हैं उनसे ऐसा कार्य नहीं हो सकता । यही कारण है कि तुम यह अनुभव करते हो कि जितनी जरूरत है उतनी सब शक्ति प्राणकी गतियोंसे मिलती है, तथा इस शक्तिके द्वारा चाहे जो किया जा सकता है और इससे चाहे जो अनुभव प्राप्त किया जा सकता है चाहे वह अच्छा हो, बुरा हो, सामान्य हो या आध्यात्मिक हो,—और इसीसे इस शक्तिके आनेपर तुम्हें भौतिक चेतना और भौतिक तत्त्वमें

बलका सञ्चार अनुभूत होता है। प्राणमें भगवती माताका जो तुम्हें संस्पर्श हुआ और तुम्हें जो वह दिव्य और भव्य प्रतीत हुआ,—वह भी स्वाभाविक है और ठीक है। कारण, प्राणपुरुषको भी हृत्पुरुष तथा सत्ताके अन्य प्रत्येक अंशके समान ही भगवती माताको अनुभव करना और अपने-आपको उनके प्रति सर्वथा समर्पित करना होगा।

पर यह बात सदा ध्यानमें रहे कि मनुष्यके अंदर जो प्राणपुरुष और जो प्राणशक्ति है वे दोनों भागवत ज्योतिसे पृथक् हो गये हैं और इस प्रकार पृथक् हो जानेपर वे जिस किसी भी शक्तिके यन्त्र बन जाते हैं, चाहे जो शक्ति उन्हें अधिकृत कर लेती है चाहे वह शक्ति प्रकाशमयी हो या अन्धकारमयी, दिव्य हो या आसुरी। सामान्यतः यह प्राण-शक्ति मनुष्यके मन और प्राणकी सामान्य तमसाच्छन्न अथवा अर्ध-चेतन गतियोंके ही अर्थात् उसकी सामान्य कल्पनाओं, स्वार्थों, आवेगों और वासनाओंके ही काम आया करती है। पर इस प्राणशक्तिमें यह क्षमता है कि यह इन सामान्य सीमाओंको पार कर और भी बढ़ सकती है और इस प्रकार बढ़नेपर उसको एक ऐसा बढ़ावा, ऐसी प्रगाढ़ता, ऐसी उत्तेजना या अपनी क्षमताओंकी एक ऐसी उत्तुङ्गता प्राप्त हो सकती है कि वह या तो दैवी शक्तियोंका, देवताओंका यन्त्र बन जाय या आसुरी शक्तियोंका, दोनोंमें किसी एकका यन्त्र

उसे प्रायः बन ही जाना पड़ता है। अथवा प्रकृतिमें यदि कोई केन्द्रस्थ नियन्त्रण न स्थापित हुआ हो तो उसका कार्य इन परस्परविरुद्ध भावोंका अव्यवस्थित मिश्रण-सा हो सकता है, अथवा यह हो सकता है कि कहीं भी उसके पैर न जमें, कभी इधर और कभी उधर झोंका खायँ और कभी देवों और कभी असुरोंका कार्य करें। अतएव तुममें जो प्राणशक्ति कार्य कर रही है उसका प्रचण्ड हो जाना ही पर्याप्त नहीं है; परचैतन्यके साथ उसका सम्बन्ध जोड़ना होगा, उसे सत्संयम-को समर्पित करना होगा, भागवत शासनके अधीन कर देना होगा। प्राणशक्तिके कार्यके प्रति जो कभी-कभी घृणा मालूम होती है अथवा उसके लिये धिक्कार होता है, इसका यही कारण है कि इसमें प्रकाश और संयमकी मात्रा अपर्याप्त है और इसका तमसाच्छन्न आसुरी वृत्तिके साथ गठबन्धन हुआ है। यह भी एक कारण है जिससे यह आवश्यक होता है कि प्राणशक्ति परचैतन्यसे आनेवाली स्फूर्ति और शक्तिकी ओर उद्घाटित हो। प्राणशक्ति अपने बलसे स्वयं कुछ भी नहीं कर सकती, यह ऊबड़-खाबड़ और प्रायः दुःख-दर्दभरे और नाशकारी चक्कर काटा करती है, और तो क्या अधः-पतन भी करा देती है; क्योंकि इसे कोई ठीक रास्ता बतानेवाला नहीं; परचैतन्यकी क्रियाशक्तिके साथ, और इस क्रियाशक्तिके द्वारा किसी बड़े और प्रकाशमय उद्देश्यकी सिद्धिके लिये कार्य करनेवाली भागवत शक्तिके साथ इसे जोड़ देना होगा।

13930

यह सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये दो गतियोंका होना आवश्यक है। एक गति ऊर्ध्वमुखी है—प्राणशक्ति ऊपरको उठती है परचैतन्यके साथ मिलनेके लिये और वहाँ वह पराशक्तिकी ज्योति और वेगसे भर जाती है। दूसरी निम्नमुखी है—यहाँ प्राणशक्ति नीरव, शान्त, शुद्ध तथा सामान्य गतियोंसे रिक्त रहती है और ऊर्ध्वशक्तिके अवरोहणकी प्रतीक्षा करती है और ऊपरसे वह क्रियाशक्ति उसमें उतरती है; उसे बदलकर उसके अपने स्वरूपको प्राप्त कराती है और उसकी गतियोंमें ज्ञान और शक्ति भर देती है। इसीसे साधकको कभी तो यह अनुभव होता है कि वह ऊपर किसी अधिक सुखी और महान् चैतन्यमें उठ, किसी विलक्षण प्रकाशमय राज्यमें और विशुद्धतर अनुभूतिमें प्रवेश कर रहा है, और कभी साधकको इसके विपरीत, प्राणमें लौट जाने, वहाँ साधना करने और उसमें सच्चैतन्यको उतार लानेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। इन दोनों गतियोंमें वास्तविक विरोध कुछ भी नहीं है; ये दोनों ही एक-दूसरीके कार्यमें साधक और आवश्यक हैं; आरोहणसे भागवत अवतरण शक्य होता है, अवतरणसे वह पूर्णता सिद्ध होती है जिसके लिये आरोहण किया जाता है और इस अवतरणसे वह पूर्णता निश्चय ही सिद्ध हो जाती है।

जब तुम प्राणके साथ उसके निम्न स्तरोंसे ऊपर उठकर उसे हृत्पुरुषके साथ जोड़ देते हो, तब तुम्हारी प्राणसत्तामें

वह विशुद्ध अभीप्सा और भक्ति भर जाती है जो हृत्पुरुषमें स्वभावसे ही होती है, इसके साथ ही यह प्राण हृदयके भावोंमें अपनी प्रचण्ड शक्ति भर देता है, यह इन भावोंको ऐसा क्रियाशील बना देता है कि उससे समूची प्रकृति, बाह्यातिबाह्य भौतिक प्रकृति भी बदल जाय और भागवत चैतन्य पार्थिव शरीरतकमें उतर आवे। जब यह हृत्पुरुषको केवल स्पर्श ही नहीं करता बल्कि ऊर्ध्व मानसमें मिल जाता है, तब वह इस योग्य होता है कि महत्तर प्रकाश और ज्ञानसे संश्लिष्ट हो और उनके आदेशको कार्यान्वित करे। सामान्यतः प्राणका चालन मानवमनसे होता है और उसका शासन उसके अल्पाधिक अज्ञानमय निर्देशोंके द्वारा हुआ करता है, अथवा यह प्राण ही दुर्दान्त होकर मनको अपने अधीन कर लेता है और उसे अपनी लालसाओं, प्रेरणाओं या कामनाओंकी पूर्तिके काममें ले आता है। अथवा इन दोनों ही गतियोंको मिश्रित कर देता है। कारण, सामान्य मानवमन इतना मूढ़ होता है कि इससे अच्छा और कुछ नहीं कर सकता, न कोई प्रमादरहित कर्तव्यनिर्देश ही पा सकता है। परन्तु जब प्राणके साथ उच्चतर मानसका सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, तब वह परप्रकाश और ज्ञानसे, उच्चतर अन्तर्ज्ञान और स्फुरणसे, शुद्धतर विवेक और भागवत सत्य तथा भागवत संकल्पके प्रत्यक्ष निर्देशोंसे परिचालित हो सकता है। प्राणका इस प्रकार हृत्पुरुष तथा परमानसके

निर्देशाधीन होना योगयुक्त चैतन्यके इस बाह्य जीवनपर सशक्तिक प्रयोगके लिये बाहर प्रकट होनेकी प्राथमिक अवस्था है ।

पर दिव्य जीवनके लिये यह भी पर्याप्त नहीं है, उच्चतर मानस चेतनाके साथ सम्बद्ध होना ही यथेष्ट नहीं है, यह तो बीचकी एक अनिवार्य अवस्थाविशेष है । इससे भी उच्चतर तथा अधिक शक्तियुक्त स्तरोंसे भागवत शक्तिका अवतरण होना आवश्यक है । उन शिखरस्थानीय स्तरोंसे, जो अभी नहीं देख पड़ते हैं, इस भागवत शक्तिका जबतक अवतरण नहीं होगा तबतक उच्चतर मानस चैतन्यका विज्ञानमय ज्योति और शक्तिमें रूपान्तरित होना, प्राण और उसकी जीवनीशक्तिका भागवत शक्तिके हाथमें एक विशुद्ध, विशाल, स्थिर, घनीभूत और बलवान् यन्त्रके रूपमें रूपान्तरित होना, शरीरका भी एक दिव्य ज्योति, दिव्य कर्म, बल, सौन्दर्य और आनन्दके रूपमें रूपान्तरित होना असम्भव है । इसीलिये इस योगमें केवल भागवत शक्तिकी ओर आरोहण ही यथेष्ट नहीं है जो कि इस योगमार्गके समान ही अन्य योगमार्गोंमें भी विधेय है, प्रत्युत भागवत-शक्तिका अवतरण होना भी यहाँ इसलिये आवश्यक है कि मन, प्राण और शरीर भी बदल कर दिव्य बनें ।

२८ नवम्बर १९२९

पाश्चात्य दर्शन और योग

यूरोपीय दार्शनिक विचार—यहाँतक कि जो मनीषीगण ईश्वर या कैवल्यकी सत्ता और स्वरूपको सिद्ध या निरूपित करनेका प्रयत्न करते हैं उनका विचार भी—अपनी मीमांसा और सिद्धान्तमें बुद्धिके परे नहीं पहुँचता। परन्तु परम सत्यको जाननेकी क्षमता बुद्धिमें नहीं है; बुद्धि

सत्यकी खोजमें केवल इधर-उधर भटकती फिरती है, इस खोजमें सत्यके खण्ड प्रतीकोंकी झलक पा सकती है और इन्हें जोड़-जाड़कर एक चीज बना लेनेकी चेष्टा कर सकती है। वह सत्यतक पहुँच नहीं सकती; केवल कोई ऐसी वस्तु या वस्तुओंको कल्पित कर सकती है जो सत्यको आभासित करनेका प्रयत्न करे। अतएव यूरोपीय तत्त्वमीमांसाका अन्त स्पष्टरूपसे या निहितरूपसे "अज्ञेयवाद" में ही होना अनिवार्य है। यदि बुद्धि सचाईके साथ अपनी तहतक पहुँचे तो वहाँसे लौटकर उसे यही कहना पड़ेगा कि "मैं नहीं जान सकती—कोई ऐसी चीज हो सकती है या अवश्य है या कम-से-कम मुझे ऐसा मालूम होता है, कि जो परम सत्य है; पर उस सत्यकी सत्यताकी कल्पना ही मैं कर सकती हूँ—जान नहीं सकती—वह या तो अज्ञेय है या कम-से-कम मैं उसे नहीं जान सकती।" अथवा यदि उसे अपनेसे परेकी सत्तासे कोई प्रकाश मिला है तो वह यह भी कह सकती है कि—"हाँ, बुद्धिके परे शायद कोई चैतन्य है, क्योंकि ऐसा मालूम होता है कि उसकी झलक या खबर भी मुझे मिलती है। यह यदि उस परम चैतन्यसे सम्बद्ध है अथवा यह स्वयं ही वह परम चैतन्य है और यदि तुम वहाँतक पहुँचनेका कोई मार्ग निकाल सकते हो तो यह परमचैतन्य जाना जा सकता है, अन्यथा नहीं।"

अतः केवल बुद्धिके द्वारा परम सत्यकी जो खोज होगी उसका फल या तो इसी प्रकारका कोई अज्ञेयवाद होगा या उससे कोई बौद्धिक सम्प्रदाय बनेगा अथवा मनःकल्पित सिद्धान्त निरूपित होगा। ऐसे हजारों सम्प्रदाय और सिद्धान्त बने हैं, हजारों और भी बन सकते हैं, पर इनमेंसे कोई भी इदमित्थं नहीं हो सकता। मन-बुद्धिके लिये प्रत्येककी अपनी-अपनी उपयुक्तता हो सकती है, विभिन्न सम्प्रदाय और उनके परस्पर-विरोधी सिद्धान्त तत्तदधिकारियोंके लिये समानरूपसे उपयुक्त हो सकते हैं। मानवमनकी कल्पनाके इस सम्पूर्ण प्रयासकी उपयोगिता इतनी ही है कि इससे मानवमनको ऐसा अभ्यास होता है और ऐसी सहायता मिलती है जिससे वह किसी ऐसे अलक्षित परम और चरमकी भावना करता रहे जिसकी ओर फिरना उसे आवश्यक प्रतीत हो। परन्तु बौद्धिक तर्क उसका जो कुछ संकेत करेगा वह अस्पष्ट और संदिग्ध होगा, या उसे उसकी जो प्रतीति होगी वह अँधेरेमें टटोलनेकी-सी होगी अथवा उसका जो प्रयास होगा वह केवल उसके प्रकटनका आंशिक दिग्दर्शन-मात्र और सो भी उसके परस्परविरोधी रूपोंका आभास-मात्र होगा; बौद्धिक तर्कमें यह सामर्थ्य नहीं जो उस सद्वस्तुमें प्रवेश करके उसे जान ले। जबतक हम बुद्धिके

ही क्षेत्रमें पड़े हैं तबतक सिवाय इसके कि जो कुछ हमने सोचा, समझा या ढूँढ़ा है उसका पक्षपातरहित होकर मनन करें, बुद्धिसे अनेक प्रकारकी, सभी सम्भवनीय प्रकारोंकी, उत्प्रेक्षाएँ करें, और यह या वह बौद्धिक विश्वास, मत या सिद्धान्त मन-ही-मन निरूपित करें, और कुछ भी नहीं कर सकते। सत्यका ऐसा पक्षपातरहित अनुसन्धान करनामात्र ही किसी भी व्यापक और ग्रहणशील बुद्धिसे बन सकता है। पर इस प्रकारसे प्राप्त किया हुआ कोई भी निर्णय या सिद्धान्त कल्पनामात्र ही हो सकता है; उसका कोई आध्यात्मिक मूल्य नहीं हो सकता; उससे वह निश्चयात्मक अनुभव या निःसंशय आध्यात्मिक निश्चय नहीं प्राप्त हो सकता जिसकी खोज जीव कर रहा है। यदि बुद्धि ही हमारा सर्वोत्तम यन्त्र हो और पारभौतिक सत्यको प्राप्त करनेका अन्य कोई साधन न हो तब तो युक्तियुक्त और सुविशाल अज्ञेयवाद ही हमारा चरम मनोभाव हो सकता है। इस अवस्थामें व्यक्त पदार्थ तो जाने जा सकते हैं पर परम और मनके परे जो कुछ है वह, चिरकालके लिये अज्ञात ही रहेगा।

परम सत्यको जानना और उसमें प्रवेश करना तो तभी बन सकता है जो बुद्धिके परे कोई महत्तर बोधशक्ति या चैतन्य हो और उसतक हम पहुँच सकते हों। ऐसा कोई महत्तर चैतन्य है या नहीं, इस विषयमें बौद्धिक

Sri Pratap Singh
Library
Srinagar.

उत्प्रेक्षण या नैयायिक युक्तिवाद हमें बहुत दूरतक नहीं ले जा सकता। हमारे लिये तो एक ऐसे रास्तेकी आवश्यकता है जिससे हमें उसका अनुभव हो, हम उसतक पहुँचें, उसमें प्रवेश करें और उसमें रहें। यदि वह रास्ता हमें मिल जाय तो बौद्धिक उत्प्रेक्षा और युक्तिवादका स्थान बहुत गौण हो जायगा और फिर उनके अस्तित्वकी कोई उपयोगिता न रह जायगी। दर्शनशास्त्र, बुद्धिके द्वारा सत्यको प्रकट करनेका कार्य, बना रह सकता है, पर मुख्यतः इस तौरपर कि उसके द्वारा सत्यके इस महत्तर आविष्कारको प्रकट किया जाय और इसका भी उतना ही अंश जितना कि बौद्धिक जगत्में ही पड़े हुए लोगोंको बौद्धिक भाषाके द्वारा समझाया जा सके।

पाश्चात्य दार्शनिक ब्राडले आदिकोंके सम्बन्धमें तुमने जो प्रश्न किया उसका उत्तर इससे हो जाता है। ये लोग बौद्धिक तर्कके द्वारा एक 'विचारातीत सत्ता' की भावनातक पहुँचे हैं अथवा उसके बारेमें ब्राडलेकी भाँति इन लोगोंने अपने निर्णय ऐसे शब्दोंमें प्रकट किये जो 'आर्य' के कुछ वचनोंकी स्मृति दिलाते हैं। यह भावना स्वयं कोई नयी भावना नहीं है; यह वेदों-जितनी प्राचीन है। बुद्धमत, क्रिश्चियन-ज्ञेयवाद और सूफीसम्प्रदायमें यह भावना अन्यान्य रूपोंमें पुनरुक्त हुई है। मूलतः यह भावना तर्कसे नहीं आविष्कृत हुई थी बल्कि आन्तरिक आध्यात्मिक साधना-

के द्वारा योगियोंने इसे प्राप्त किया था। ईसाके पूर्व सातवीं और पाँचवीं शताब्दियोंके बीचमें, जब पश्चिमी और पूर्वी दोनों ही देशोंमें ज्ञानको बुद्धिगत करनेका प्रयत्न आरम्भ हुआ, तब यह परम सत्य पूर्वके देशोंमें तो बना रहा, पर पश्चिमी देशोंमें जहाँ बुद्धिको ही सत्यके आविष्कार-का एकमात्र या सर्वश्रेष्ठ साधन मान लिया गया वहाँ यह सत्य अस्त हो चला। तथापि वहाँ भी इसके पुनरागमनका प्रयास बराबर होता रहा; निओ-प्लेटानिष्ट सम्प्रदायवाले इसको लौटा लाये और अब ऐसा मालूम होता है कि, निओ-हेगेलियन सम्प्रदायवाले और अन्य लोग (मेरी धारणाके अनुसार, रूसके आउसपेन्सकी और दो-एक जर्मन दार्शनिक) उसको प्राप्त करनेके रास्तेपर हैं। परन्तु फिर भी इनमें अन्तर है।

प्राच्य देशोंमें विशेषतः भारतवर्षमें, दार्शनिकोंने पाश्चात्य देशोंके समान ही परम सत्यके स्वरूपको बुद्धिके द्वारा निश्चित करनेका प्रयास किया है। परन्तु प्राच्य दार्शनिकों-ने, एक तो, सत्यानुसन्धानमें बुद्धिको सर्वश्रेष्ठ साधन नहीं माना बल्कि उसे गौण स्थान ही दिया है। यहाँ सदा आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान और प्रकाश और आध्यात्मिक अनुभूतिको ही प्रथम स्थान दिया गया है; और तर्कके द्वारा कोई भी निर्णय जो इस परम प्रमाणका विरोधी हो,

अपसिद्धान्त ही माना गया है। दूसरी बात यह कि प्रत्येक दर्शन चैतन्यकी परमावस्थाको प्राप्त करनेके व्यावहारिक साधनसे सुसज्जित है, फलस्वरूप विचारका आरम्भ यदि तर्कसे भी होता है तो भी उद्देश्य उसी चैतन्यको प्राप्त करना है जो बौद्धिक तर्कके परे है। प्रत्येक दर्शनके प्रवर्तक (तथा उस दर्शनको परम्परासे चलानेवाले आचार्यगण भी) जैसे दार्शनिक रहे हैं वैसे ही योगी भी रहे हैं। जो केवल दार्शनिक विद्वान् हुए, उनकी विद्वत्ताके लिये उनका आदर तो हुआ, पर वे कभी सत्यके द्रष्टा या आविष्कारक नहीं माने गये। और जिन दर्शनोंमें आध्यात्मिक अनुभूति-का सुपर्याप्त और सुदृढ़ साधन न रहा वे दर्शन लुप्त भी हो गये, भूतकालकी चीज बन गये। कारण, उनमें आध्यात्मिक आविष्कार और उपलब्धिकी शक्ति नहीं थी।

पाश्चात्य देशोंमें ठीक इसके विपरीत हुआ। वहाँ तर्क, बुद्धि, युक्तिवाद उच्चतम साधन माना गया और फिर यही चरम लक्ष्य होकर रहा; तर्क ही दर्शनका अथ और इति है। वहाँ यही मान्यता हो गयी कि तर्क और युक्तिके द्वारा ही सत्यका आविष्कार करना होगा; आध्या-त्मिक अनुभव भी तर्ककी कसौटीपर कसकर देख लिया जाय और ठीक उतरनेपर माना जाय—अर्थात् भारतीय मान्यताके सर्वथा विपरीत! यहाँतक कि वे लोग भी जो

यह समझते हैं कि बौद्धिक विचारके परे पहुँचना होगा और जो किसी मानसातीत 'सत्ता' का होना स्वीकार भी करते हैं, वे भी इसी फेरमें पड़े हुए देख पड़ते हैं कि इस बौद्धिक तर्कको विशुद्ध करके इसीके द्वारा ही उस मानसातीत 'सत्ता' को प्राप्त करना और उसे बौद्धिक परिच्छिन्नता और अज्ञानके स्थानमें लाकर बैठाना होगा। और फिर पाश्चात्य दर्शनमें कोई शक्ति नहीं रह गयी है; क्योंकि यह केवल सिद्धान्तोंकी खोजमें रही, आत्मानुभूतिकी नहीं। प्राचीन यूनानियोंका दर्शन तब भी सशक्तिक था, पर उसका रूप आध्यात्मिक उपलब्धिकी अपेक्षा सदाचार और सौन्दर्यकी ओर ही अधिक रहा। पीछे तो यह भी बदलकर केवल बौद्धिक और वाग्विलासात्मक रह गया; केवल बुद्धिवाद बन गया जिसमें आध्यात्मिक अनुभूति, आध्यात्मिक अन्वेषणके द्वारा सत्यकी प्राप्ति, आध्यात्मिक रूपान्तरका कोई मार्ग या साधन नहीं रहा। यदि यह अन्तर (पूर्व और पश्चिममें) न होता तो तुम्हारे-जैसे साधकको मार्ग जाननेके लिये पूर्वकी ओर मुड़नेकी कोई आवश्यकता न होती। कारण, निरे बौद्धिक क्षेत्रमें पाश्चात्य दार्शनिक उतने ही समर्थ हैं जितना कि कोई भी प्राच्य ज्ञानी महात्मा। यूरोपीय बुद्धिकी अति-तार्किकताने, जिस मार्गको खो दिया है वह तो आध्यात्मिक मार्ग है जो बौद्धिक स्तरोंके

पार पहुँचता है, बाह्याभिमानी पुरुषसे अन्तस्तम आत्माके पास ले जाता है।

ब्राडले और जोचिमके लेखोंसे जो अवतरण तुमने मेरे पास भेजे हैं उनमें भी बुद्धिका ही अपने परेकी वस्तुको विचारसे जानने और उसके बारेमें तर्कसंगत युक्तियुक्त सिद्धान्त स्थापित करनेका प्रयास देखनेमें आता है। इसमें वह शक्ति नहीं है जो उस परिवर्त्तनको कार्यतः सिद्ध करे जिसका कि इसमें वर्णन है। यदि ये लेखक इस 'बुद्धिसे भिन्न अन्य सत्ता' की किसी बौद्धिक उपलब्धिका ही सही, बुद्धिकी भाषामें वर्णन किये होते तो उसे ग्रहण करनेका अधिकारी कोई भी व्यक्ति भाषाके आवरणमेंसे होकर उसे अनुभव कर लेता और उस अनुभवके समीप हो लेता। अथवा यदि ऐसा होता कि बौद्धिक निर्णय कर चुकनेपर वे उसकी आध्यात्मिक अनुभूतिका रास्ता निकालकर या पहलेसे तैयार रास्तेपर चलकर उस अनुभूतिको प्राप्त हुए होते तो उनके विचारोंको पढ़नेसे मनुष्य उस अवस्थान्तरको प्राप्त करनेके योग्य होता। परन्तु इस महत्प्रयासयुक्त चिन्तामें कोई ऐसी बात नहीं है। यहाँ जो कुछ है बुद्धिके अंदरकी ही बात है और उस क्षेत्रमें अवश्य ही प्रशंसनीय है; पर आध्यात्मिक अनुभूतिके लिये इससे कोई शक्ति नहीं मिल सकती।

समग्र सत्यको विचार लिया, इतनेसे ही कोई अज्ञानसे

निकलकर ज्ञानको, उस ज्ञानको नहीं प्राप्त होता जिस ज्ञानसे मनुष्य जो कुछ जानता है वही हो जाता है; ऐसा ज्ञान तो चेतनाके परिवर्त्तनसे ही प्राप्त होता है। बाह्य चेतनासे निकलकर प्रत्यक्ष अन्तश्चैतन्यको प्राप्त होना, अहंकार और शरीरसे अवच्छिन्न चैतन्यको अपरिच्छिन्न विशाल करना, आन्तर संकल्प, और अभीप्सा और प्रकाशकी ओर ऐसा उद्‌घाटन कि वह अवच्छिन्न चैतन्य ऊपर उठकर मन-बुद्धिको पार कर जाय, इस प्रकारसे चैतन्यको ऊँचा चढ़ाना, आत्मदान और आत्मसमर्पणके द्वारा विज्ञानमयी भागवती शक्तिका अवतरण कराना और तत्फलस्वरूप मन-बुद्धि, प्राण और शरीरको भागवत स्वरूप प्राप्त कराना—यही है वह अखण्ड मार्ग जो विज्ञानमय सत्य* को प्राप्त कराता है। इसीको हमलोग यहाँ सत्य कहते हैं और यही हमारे योगका लक्ष्य है।

१५ जून १९३०

* मैंने यह कहा है कि विज्ञानकी भावना प्राचीन कालसे ही वर्त्तमान रही है। भारतवर्षमें तथा अन्यान्य देशोंमें भी उसतक पहुँचनेका प्रयास पहले हुआ था; पर जो बात छूट गयी थी वह थी उस मार्गकी बात जिस मार्गसे वह विज्ञान इस जीवनके साथ अखण्डतया सम्बद्ध हो जाता और समस्त प्रकृतिको यहाँतक कि जड़ प्रकृतिको भी, दिव्य बनानेके लिये नीचे उतारा जा सकता।

अज्ञेयवादियों और वेदान्तियोंका अज्ञेय

आत्मतत्त्वकी ओर देखनेकी जो दृष्टि होनी चाहिये उससे ठीक विपरीत दृष्टिसे जो कोई इस तत्त्वकी ओर देखता है अर्थात् पिछले दिनोंके यूरोपीय अज्ञेयवादियों-की दृष्टिसे देखता है, मैं नहीं समझता कि उसे कुछ भी कहकर इस विषयमें कोई विश्वास दिलाया जा सकता हो। योगानुगम्य अनुभवकी उपयोगिता अनुभवी व्यक्तिके लिये

आन्तरिक और केवल वैयक्तिकरूपसे चाहे कुछ भी हो, पर उनके सिवाय इसकी क्या उपयोगिता है, इस विषयमें उपर्युक्त अज्ञेयवादियोंकी यह शंका होती है, कि ऐसे अनुभवका लक्ष्य सायंसके सिद्धान्तानुकूल (Scientific) सत्य नहीं होता और इससे परम सत्यकी प्राप्ति हो सकती है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसे अनुभव अनुभवीके व्यक्तित्वसे रँगे हुए होते हैं। इसपर यह पूछा जा सकता है कि क्या सायंस स्वयं भी किसी परम सत्यको प्राप्त हो चुका है? नहीं, बल्कि इसके विपरीत यही देखनेमें आता है कि ज्यों-ज्यों सायंस आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों इस भौतिक क्षेत्रमें भी परम सत्य पीछे ही हटता जाता है। सायंस तो यह मानकर चला है कि परम सत्य भौतिक और बाह्य विषय-भूत ही हो सकता है—और यह बाह्य विषयगत परम तत्त्व (अथवा परम न सही उससे कुछ उतरकर ही सही) समस्त आन्तर विषयोंकी उलझन सुलझा देगा। योगकी मान्यता इसके बिलकुल विपरीत है, वह यह है कि परम सत्य आध्यात्मिक है और आभ्यन्तर है, वही परम ज्योति है और उसीमें हमें बाह्य जगत् देखना होगा। ये दोनों उत्तर-दक्षिण ध्रुवकी भाँति एक-दूसरेसे सर्वथा विरुद्ध दिशामें हैं और बीचमें इतनी बड़ी खाड़ी है कि जिसका कोई वारा-पार नहीं।

योग अवश्य ही इस हदतक सायंसकी पद्धतिसे ही

चलता है कि आन्तरिक अनुभवसे ही इसका उपक्रम होता है और इसके सब तथ्योंका आधार अनुभव ही है; मन-बुद्धिमें होनेवाले स्फुरण केवल प्रथम सोपान हैं, वे आत्मानुभव नहीं समझे जाते—उन्हें स्वानुभवमें परिणत करना होता है और स्वानुभवसे सिद्ध करना होता है। अनुभवकी सार्थकता-पर भौतिक मन-बुद्धिको सन्देह हुआ करता है। कारण, यह अंदरकी चीज है बाह्य विषय नहीं। परन्तु अंदर-बाहरका जो यह भेद है इस भेदमें भी क्या रखा है? सभी ज्ञान और अनुभव मूलतः क्या आन्तरिक ही नहीं होते? इन्द्रिय-ग्राह्य बाह्य विषय मनुष्योंद्वारा प्रायः एक ही रीतिसे जो गृहीत होते हैं इसका कारण यह है कि मन-बुद्धि और इन्द्रियोंकी वैसी ही रचना है; इनकी रचना यदि दूसरे प्रकारकी हो तो भौतिक जगत्का दूसरे ही प्रकारका विवरण प्राप्त होगा, यह बात स्वयं सायंससे स्पष्टतया सिद्ध है। परन्तु तुम्हारे मित्रकी शंका तो यह है कि योगका अनुभव व्यक्ति-गत होता है, अनुभवीके व्यक्तित्वसे रँगा हुआ होता है। यह बात विशिष्ट मनोभूमिकाओंमें प्राप्त होनेवाले अनुभवके खास रूपके विषयमें एक हदतक सच हो सकती है; पर यहाँ भी यह भेद केवल ऊपरी ही होता है। सच्ची बात यह है कि योगानुभवके जो मार्ग हैं वे सर्वत्र समान ही हैं। अवश्य ही मार्ग एक नहीं है, अनेक हैं; क्योंकि जिस अनन्तकी यहाँ खोज है उसके अनेक रूप हैं, जिनके अनेक

मार्ग भी हैं और होने ही चाहिये; परन्तु फिर भी मुख्य-मुख्य मार्ग सर्वत्र एक-से ही हैं और इसलिये एक दूसरेसे दूर देशों और कालोंमें तथा एक दूसरेसे सर्वथा पृथक् सम्प्रदायोंमें भी एक-से ही अन्तर्ज्ञान, एक-से ही अनुभव और एक-से ही दृश्य गोचर होते हैं। मध्यकालीन यूरोपीय भक्त अथवा योगीके अनुभव ठीक-ठीक वैसे ही हैं जैसे कि मध्यकालीन भारतीय भक्तों या योगियोंके अनुभव हैं; उन अनुभवोंके नाम, रूप और साम्प्रदायिक रंग चाहे कितने भी भिन्न हों—फिर भी यह बात तो स्पष्ट ही है कि ये लोग न तो आपसमें कोई विचारविनिमय कर रहे थे, न इन्हें एक दूसरेके अनुभवों या प्राप्त फलोंका ही परिचय था जैसा कि इस समय सायंसविदोंको है—जैसा कि न्यूयार्कसे योकोहामा-तकके सभी सायंसवित् एक दूसरेके अनुभवोंको जानते हैं। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि योगमें कोई बात है जो समान है, सार्वत्रिक है और विश्वसनीयरूपसे सत्य है—मन-बुद्धिकी भाषाके भेदसे फिर वर्णनशैलीमें चाहे जितना परस्पर-भेद हो।

परम सत्यके विषयमें मैं यह समझता हूँ कि क्या तो उन्नीसवीं सदीके पाश्चात्य अज्ञेयवादी और क्या भारतीय वेदान्ती दोनों ही सम्भवतः इस बातमें एक दूसरेसे सहमत होंगे कि वह परम सत्य छिपा हुआ है पर है तो सही। दोनों ही उसे अज्ञेय कहकर वर्णन करते हैं; अन्तर केवल इतना ही है कि वेदान्ती उसे

बुद्धिके लिये अगोचर और वाणीके लिये अनिर्देश्य बतलाकर भी यह कहते हैं कि मन-बुद्धिके परे कोई गभीरतर या उच्चतर वस्तु है जिसके द्वारा उसकी प्राप्ति हो सकती है और मन-बुद्धि भी उसे प्रतिबिम्बित कर सकती है तथा मन-बुद्धिको प्राप्त होनेवाले उसके बाह्याभ्यन्तर अनुभवके सहस्रों रूप वाणी भी प्रकट कर सकती है। उन्नीसवीं सदीके अज्ञेयवादी, मैं समझता हूँ कि, इस वैशिष्ट्यको अस्वीकार कर देंगे और इस तरह यह कहेंगे कि अज्ञेयकी सत्ता सन्दिग्ध है और यदि उसकी सत्ता हो भी तो वह केवल अज्ञेय ही है।

१० अक्टूबर १९३२

संशय और भगवान्

क्या अध्यात्मचेता और क्या जड़वादी, सारा संसार ही इस बातको समानरूपसे जानता है कि प्रकृतिकी इस अविद्या या अज्ञानमें उत्पन्न हुए या प्राकृत रीतिसे विकसित हुए प्राणीके लिये यह जगत् न तो फूलोंकी सेज है और न आनन्दमय आलोकसे आलोकित

कोई मार्ग ही। यह बड़ी कठिन यात्रा है, संग्राम है, संघर्ष है, प्रायः कष्टप्रद और द्वन्द्वमय विकास है, तमस् और झूठ और दुःखसे घिरा हुआ जीवन है। इसके अपने मानसिक, प्राणिक और शारीरिक सुखोपभोग हैं, परन्तु ये केवल, एक अनित्य रसास्वादनमात्र कराते हैं—जिसे भी यह प्राण छोड़ना नहीं चाहता—और इन सुखोपभोगोंका अन्त अरुचि, क्लान्ति और भ्रमभञ्जनमें ही होता है। तब फिर क्या? यह कहना सहज है कि भगवान् हैं ही नहीं, पर इससे लाभ क्या? यह तो जहाँ-के-तहाँ ही खाली हाथ रह जाना और भविष्यके विषयमें अन्धकारमें पड़े रहना है। कोई रसेल आकर यह नहीं बतावेगा, कोई जड़वादी यह नहीं सुझावेगा कि आखिर तुम कहाँ जा रहे हो या यही कि तुम्हें कहाँ जाना चाहिये। भगवान् अपने-आपको इस प्रकार नहीं प्रकट करते कि बाह्य संसारी घटनाओंमें कोई उन्हें पहचान ले—यह बात तो ऐसी ही है। ये सब कार्य किसी स्थानमें बैठे हुए किसी दायित्वहीन स्वेच्छाचारी पुरुषके कार्य नहीं हैं, प्रत्युत सत्स्वरूपके विशिष्ट स्वभावानुसार दैवी शक्तियोंके क्रमबद्ध कार्यसे उद्भूत होनेवाली घटनाएँ हैं; अथवा यह कहिये कि यह जो कुछ है, सत्स्वरूपका कोई संकल्प है, कोई उपपाद्य विषय है जिसे पूर्ण करने या जिसका उपपादन करनेके कार्यमें हम सभी वास्तवमें स्वेच्छासे सम्मिलित और सहयोगी हुए हैं। कार्य दुष्कर है, संशयग्रस्त है, भविष्यमें क्या सम-विषम दशा

होगी—कोई लख नहीं सकता ? तब तो दोमेंसे एक बात हो सकती है—या तो यह हो सकता है कि बौद्धोंकी या मायावादियोंकी रीतिसे इस जगत्से निकलकर निर्वाण हो जाय, या यह हो सकता है कि अपने अंदर प्रवेश करके वहाँ भगवान्को प्राप्त किया जाय, क्योंकि बाह्य जगत्में भगवान् कहीं ढूँढ़े नहीं मिलते । जिन लोगोंने ऐसा प्रयत्न किया है, और ये कुछ इनेगिने ही नहीं हैं, सैकड़ों और सहस्रोंकी संख्यामें हुए हैं, वे सदासे ही साक्ष्य दे रहे हैं कि भगवान् हैं और यही कारण है कि उन्हें प्राप्त करानेवाला योग भी है । यह योग दीर्घकालसाध्य है ? भगवान् मायाके बहुत घने परदेके अंदर छिपे हुए हैं और पुकार करते ही तुरंत या आरम्भिक अवस्थामें हमारी पुकारका उत्तर नहीं देते ? अथवा केवल एक झलक-सी दिखा देते हैं जो ठहरती नहीं —आती और निकल जाती है और भगवान् फिर छिप जाते हैं और प्रतीक्षा करते हैं कि हमलोग तैयार हों ? परन्तु भगवान्का यदि कुछ मूल्य है तो उनके पीछे चलनेमें कुछ कष्ट उठाना, कुछ समय देना और कुछ श्रम करना क्या सार्थक नहीं होगा, हमें क्या यही उचित है कि हम किसी प्रकारका कोई अभ्यास न करें, कोई उत्सर्ग न करें, कोई दुःख न उठावें, कोई कष्ट न करें और फिर भी यह जिद पकड़े रहें कि भगवान् हमें मिलें ? ऐसी जिद तो निश्चय ही

नादानी है। यह निश्चय है कि भगवान्को पानेके लिये हमें अंदर जाना होगा, परदेके अंदर पैठकर देखना होगा; तभी हम उन्हें बाहर भी देख सकेंगे और तब बुद्धिको भगवत्सत्ता जँचेगी क्या, बल्कि प्रत्यक्ष अनुभवसे उसे उस सत्ताको स्वीकार ही कर लेना पड़ेगा—वैसे ही जैसे कोई मनुष्य किसी बातको न मानता हो पर उसे प्रत्यक्ष देख लेनेपर मान लेता है और फिर उस बातको न मानना उसके लिये सम्भव ही नहीं होता। पर इसके लिये साधन-पथ स्वीकार करना होगा, संकल्पमें दृढ़ता रखनी होगी और अभ्यासमें धैर्य रखना होगा।

१० सितम्बर १९३३

मिथ्या मन्द प्रभाकी उपत्यका

तुम्हारे मित्रके पत्रमें सीधे सत्यसे ही निकली हुई धारा बहती देख पड़ती है। ऐसी धारा जहाँ-तहाँ या जब-तब नहीं देख पड़ती। यहाँ वह बुद्धि दिखायी दे रही है जो केवल सोचती नहीं, देखती है—देखती है केवल पदार्थोंके बाह्यरूपको ही नहीं बल्कि उनके अन्तराशयको भी। वाक्-शक्तिकी एक परावस्था होती है जिसे तन्त्रोंमें 'पश्यन्ती वाक्' कहा गया है; यहाँ है 'पश्यन्ती बुद्धि' अर्थात् वह बुद्धि जो देखती है। ऐसी बुद्धि उपजनेका कारण यह हो सकता है कि अन्तःस्थित द्रष्टा विचारकी कक्षा पार करके अनुभवके क्षेत्रमें पहुँचा हो, पर ऐसे भी बहुत-से लोग होते हैं जिन्हें अनुभवका बड़ा भारी खजाना मिलनेपर भी उस अनुभवके द्वारा विचारदृष्टिको इतनी विमलता नहीं मिलती कि उस अनुभवको स्पष्ट व्यक्त कर सके। पुरुष अनुभव करता है,

पर बुद्धि अपनी ही चालसे चलती हुई उसके विकृत और अपूर्ण, मलिन और कुछ-के-कुछ रूपान्तर किया करती है। पर यहाँ इस प्रकृतिमें यथार्थ दृष्टिकी सामर्थ्य पहलेसे ही प्रस्तुत रही होगी, ऐसा प्रतीत होता है।

आधुनिक बुद्धिवाद जिसे सत्यका प्रकाश मान बैठा है उस अचिर मन्दप्रभ तुषार-बिन्दु-जालसे इतनी जल्दी और इतनी असन्दिग्ध रीतिसे छुटकारा पा जाना बहुत बड़ी बात है। आधुनिकोंकी बुद्धि (और उसके साथ हमलोग भी) मिथ्या मन्द प्रभाकी उपत्यकामें इतने दीर्घकालसे बराबर भटकती ही रही है कि किसीके लिये विशुद्ध दर्शनके सूर्यप्रकाशके द्वारा उस तुषार-बिन्दु-जालको इतना शीघ्र और इतनी पूर्णताके साथ, जैसा कि हम यहाँ देखते हैं, नष्ट करना कोई आसान बात नहीं है। आधुनिकोंका मनुष्यको ही ज्ञान और अनुभवका पैमाना मानना (humanism) और मनुष्य-जातिके उत्कर्षका एकमात्र साधन मनुष्यजातिको ही समझ लेना (humanitarianism) अथवा उनकी मन-बुद्धिको ही जगत्‌की असलियत करार देनेकी (sentimental idealism) निस्सार भावुकता और उनका यह असार बुद्धिवाद कि विशुद्ध तर्क ही ज्ञानका एकमात्र साधन है (intellectualism) और उनका समन्वय-बुद्धिसे विभिन्न मतोंसे अपनी प्रकृति और रुचिके अनुकूल

सारतत्त्व ग्रहण करनेको ही परम सिद्धान्त मान लेना (synthetic eclectism) तथा ऐसी ही उनकी अन्य बातोंके सम्बन्धमें यहाँ जो कुछ कहा गया है वह लेखकके प्रशस्य निर्मल मानसका द्योतक है और ठीक अपने लक्ष्यको वेधनेवाला है। इन सब साधनोंसे मनुष्यजाति अपने जीवनमार्गोंका वह आमूल परिवर्तन नहीं करा सकती जिसके होनेकी आवश्यकता फिर भी अधिकाधिक प्रतीत हो रही है। यह सुधार तो तभी हो सकता है जब हम अन्तःस्थित सत्‌की दृढ़ भित्तिको प्राप्त करेंगे—इसे प्राप्त करना केवल भावनाओं और मानसिक कल्पनाओंसे नहीं बनता, इसके लिये चेतनाका ही परिवर्तन होना जरूरी है, आन्तरिक और आध्यात्मिक दीक्षाका होना जरूरी है। परन्तु आजकल सत्यकी यह ऐसी बात है जैसी नक्कारखानेमें तूतीकी आवाज़ हो।

बाह्य जगत्‌के गुण-कर्मोंका क्षेत्र और भागवत सत्यका धाम, इन दोनोंमें जो भेद है, जो भेद यहाँ बड़ी सूक्ष्मदर्शिताके साथ निरूपित हुआ है, वह स्वरूपज्ञानविषयक आद्य वचनोंकी श्रेणीमें आ बैठता है। इन पृष्ठोंमें इसका जो विलक्षण निरूपण हुआ है वह केवल बौद्धिक चातुर्य ही नहीं है; प्रत्युत उस पार पहुँचकर वहाँसे आन्तरिक आत्मानुभवकी भूमिकासे इस बाह्य जगत्‌की ओर देखकर इसके वास्तविक स्वरूपका जो सुस्पष्ट निश्चय किया जा सकता है

उसीका यह याथातथ्य निर्दोष वर्णन है। जितना ही कोई अन्तस्तलमें प्रवेश करता या ऊपरकी ओर उठता है उतना ही इन बाह्य विषयोंको देखनेकी उसकी दृष्टिमें परिवर्तन होता है और सायंसद्वारा सुव्यवस्थित होनेवाला बाह्य ज्ञान अपने वास्तविक और अति मर्यादित स्वरूपको प्राप्त होता है। सायंस प्रायः सभी बौद्धिक और बाह्य ज्ञानके समान केवल गुण-कर्म ही बोधित कराता है। यही नहीं, इसके साथ मैं इतना और जोड़ देना चाहता हूँ कि यह गुण-कर्मोंका भी पूर्ण तथ्य नहीं बोधित करा सकता; क्योंकि इसके द्वारा कुछ प्रमेयमात्र प्राप्त होते हैं पर जो अति महत्त्वपूर्ण अप्रमेय हैं उनसे वञ्चित ही रह जाना पड़ता है; फिर इन गुण-कर्मोंके विषयमें यह भी तो यहाँ कुछ पता नहीं चलता कि कैसे, किस तरहसे, क्या होता है, केवल इतना ही मालूम होता है कि इस बाह्य प्रकृतिकी अमुक-अमुक अवस्थामें अमुक-अमुक बातें हुआ करती हैं। सायंसके इन सब विजयों और चमत्कारोंके होते हुए भी, इन सबका रहस्योद्घाटन करनेवाला मूलतत्त्व, इनकी कारणमीमांसा, इनका सम्पूर्ण तथ्य अन्धकारमें ही छिपा रह जाता है, वह पहले जितना रहस्यमय था उतना ही क्या बल्कि उससे भी अधिक रहस्यमय हुआ जाता है। सायंसने इस समृद्ध विशाल और वैचित्र्यमय पार्थिव जगत्के ही नहीं बल्कि प्राण और चेतना और मन-बुद्धि तथा उनके

गुण-कर्मोंके विषयमें जो यह सिद्धान्त ठाना है कि यह सब जड़ परमाणु-पुञ्जोंका विकास है और ये सब परमाणु एक-से ही हैं, केवल उनकी संख्या और सजावटमें भेद है, यह सिद्धान्त सर्वथा युक्तिविरुद्ध इन्द्रजालमात्र है और गुह्यातिगुह्य आध्यात्मिक भावनामें आनेवाले किसी भी चमत्कारकी अपेक्षा अधिक चकरानेवाला है। सायंसने अन्तमें हम लोगोंको एक सुसम्पन्न असत्याभासमें, एक गढ़ी-गढ़ायी आकस्मिक घटनामें, काकतालीयन्यायसे होनेवाली किसी अनहोनीमें लाकर छोड़ा है—एक नवीन 'अघटन-घटना पटीयसी' मायाका नज़ारा दिखाया है; यह पार्थिव माया है जो असम्भवको सम्भव कर दिखानेमें अति पटु है, यह एक ऐसा चमत्कार है जो न्यायतः हो ही नहीं सकता, पर फिर भी जो, किसी तरहसे हो, है ही, और ऐसी अभेद्य दृढ़तासे व्यवस्थित है कि ननु नचकी कोई गुञ्जायश नहीं, और फिर है युक्तिसे असंगत और अनवगम्य ही! ऐसा क्यों है,—इसका स्पष्ट कारण यही है कि सायंसने किसी असली चीज़को ही भुला दिया है; जो कुछ घटित है उसे तो इसने देखा और जाँचा है और एक तरहसे यह भी देखा और जाँचा है कि यह कैसे घटित हुआ, पर इसने किसी ऐसी वस्तुसे अपनी आँखें फेर ली हैं जिस वस्तुके होनेसे यह असम्भव सम्भव हुआ, जो वहाँ है ही इसलिये कि अपने-आपको प्रकट करे। इन बाह्य पदार्थोंमें कुछ भी सार वस्तु नहीं है यदि अन्तर्निहित भागवत सत्य ही हमारी

आँखोंकी ओट हो; क्योंकि उस हालतमें यह जो बाह्य आकार है, जो स्वानुरूप बना लेने और उपयोगमें ले आनेकी एक चीज़ है, इसके विशाल बाह्य पटलमें ही मनुष्य अटका रह जाता है। सायंस जादूगरके जादूका विश्लेषण करनेकी चेष्टा कर रहा है, परन्तु इसका मूल उद्गम-स्थान कौन है, इसका वास्तविक आशय क्या है और इस लीलाके रासमण्डल कहाँ हैं, यह जानना तो तब आरम्भ होगा जब तुम जादूगरके अपने चिद्रूपमें प्रवेश करोगे। "आरम्भ" मैं इसलिये कहता हूँ कि भागवत सत्य इतना सीधा-साधा सुबोध नहीं है कि प्रथम स्पर्शमें ही तुम उसे पूर्णतया जान लो या किसी एक सूत्रमें बाँध लो; भागवत सत्य अनन्त है और यह वह अनन्त ज्ञान उद्घाटित करता है जिसके सामने सारा सायंस मिलकर भी कुछ नहीं-सा ही देख पड़ता है। परन्तु केवल आरम्भ होनेपर भी पदार्थोंके पीछे जो सत्तत्त्व, सनातन तत्त्व है वह तो मिलता है और उसके प्रकाशमें सब पदार्थ अन्तस्तलसहित प्रकाशित—प्रकट होते हैं और उनका अत्यधिक अन्तःपरिचय प्राप्त होता है।

सदिच्छासे सत्यकी खोज करनेवाले कुछ वैज्ञानिक (साइंटिस्ट) बाह्य पदार्थोंके अन्तर्निहित आध्यात्मिक तथ्यके बाह्य या बाह्यातिबाह्य आकारपर अपनी अन्वेषण-बुद्धिका जो बेकार चञ्चुप्रहार किया करते हैं उन्हें मैं क्या समझता

हूँ, सो एक बार पहले तुमसे कही चुका हूँ, इसलिये उसका यहाँ विस्तार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। इससे अधिक विचारणीय विषय तो उस महत्तर संकटका है जो आध्यात्मिक और पारभौतिक अनुभवकी सत्यताके शत्रु संशयवादियोंद्वारा होनेवाले नवीन आक्रमणके रूपसे आता हुआ-सा परिलक्षित हो रहा है, ये जिस युद्धकौशलसे अपना संहारकर्म जारी कर रहे हैं वह युद्धकौशल भी नया है और वह यह है कि ये इस आध्यात्मिक और पारभौतिक अनुभवकी सत्यताको अपनी ही बुद्धिके अनुरूप बनाकर मान लेते हैं और उसी प्रकार उसकी व्याख्या कर उसे ख़तम करते हैं। यह भयका स्थल है, ऐसा माननेका प्रबल कारण तो हो सकता है; पर मुझे यह आशंका है कि यदि ये बातें कहीं अच्छी तरहसे जाँची गयीं तो मनुष्यजातिकी बुद्धि इस विमूढ़ पल्लवग्राही बहिर्बुद्धिकी ऐसी व्याख्याओंसे जिनसे कुछ भी व्याख्यात ही नहीं होता, अधिक कालतक संतुष्ट न रह सकेगी। एक ओर यदि धर्मके रक्षक आध्यात्मिक अनुभूतिको केवल अन्तःकरणका ही भान बताकर जैसे एक ऐसे कमज़ोर स्थानपर खड़े होते हैं कि जो सुगमतासे जीता जा सकता है, तो दूसरी ओर वैसे ही यह देख पड़ता है कि आध्यात्मिकताके ये प्रतिपक्षी भी, आध्यात्मिक और पारभौतिक अनुभूतिको मानकर उसकी जाँच करनेपर जो किसी प्रकारसे भी राजी हो जाते हैं, सो बेजाने जड़वादके

दुर्गका द्वार ही प्रतिपक्षके लिये खोल देते हैं । भौतिक क्षेत्रमें अपने चतुर्दिक् खाई खोदकर बने रहना, पार-भौतिक वस्तुओंको मानने या केवल जाँचनेसे भी इनकार कर देना ही उनका मज़बूत गढ़ था; पर जहाँ यह टूटा, तहाँ फिर मानवमन जो ऐसी वस्तु चाहता है कि जो इससे कम अभावात्मक और इससे अधिक भावात्मक और सहायक हो, वह इन लोगोंके अपसिद्धान्तोंके मृत शरीरों और उनकी ख्यातिको अख्यात करनेवाली व्याख्याओं तथा विचित्र बौद्धिक उत्प्रेक्षाओंके टूटे-फूटे खण्डहरोंको लाँघकर अपनी वांछित वस्तुके समीप पहुँच ही जायगा । तब एक दूसरा भय उत्पन्न हो सकता है, इस बातका नहीं कि सत्यसे ही लोगोंकी आँखें सदाके लिये फिर जायँगी, वल्कि इस बातका कि कहीं फिर वही पुरानी भूल पुराने ढंगसे या किसी नये रूपमें फिरसे न होने लगे—अर्थात् एक ओर अन्ध आततायी सुधारविरोधी साम्प्रदायिक धर्माभिमान बढ़े और दूसरी ओर प्राणगत वासनाओंसे युक्त गुह्यविदों और नामधारी अध्यात्मविदोंके प्रमाद लोगोंको अपने गर्त्तों और दलदलोंमें गिराने और फँसाने लगें ! इन्हीं प्रमादोंकी बदौलत ही तो भूतकाल और भूतकालीन धारणाओंपर जड़वादियोंको आक्रमण करनेका सारा वास्तविक बल प्राप्त हुआ था । पर ये सब भयजनित भूत हैं जो उपान्त भूमि-पर अर्थात् पार्थिव अन्धकार और पूर्ण ज्योतिके मध्यप्रदेशमें

सदा ही मिला करते हैं। इन सब बातोंके होते हुए भी, अन्तमें, इस पार्थिव चेतनामें भी, विजय होगी उस परा-ज्योतिकी ही, यही एक बात सर्वोपरि सुनिश्चित है।

कला, काव्य, सङ्गीत योग नहीं हैं, स्वतः अध्यात्म नहीं हैं, वैसे ही जैसे दर्शनशास्त्र या सायंस भी अध्यात्म नहीं हैं। आधुनिकोंकी बुद्धिमें, यहाँ भी, एक दूसरे प्रकारकी विलक्षण अक्षमता—यह असमर्थता देखनेमें आती है कि मन-बुद्धि और आत्मामें कोई भेद इसे नहीं देख पड़ता, इसके देखते बौद्धिक, नैतिक और सौन्दर्य-विषयक आदर्श, सब अध्यात्म ही है और इन विषयोंमें निम्न कोटिकी उन्नति भी उसकी दृष्टिमें आध्यात्मिक उन्नतिका ही लक्षण है। यह बिल्कुल सच्ची बात है कि दार्शनिक अथवा कविकी मानसिक अन्तःस्फूर्तियाँ अधिकांशमें एक प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभूतिकी अपेक्षासे बहुत ही छोटी चीज हैं; ये दूरस्थ प्रभाके क्षणिक कम्पनमात्र हैं; अति मन्द प्रतिबिम्ब हैं, प्रत्यक्ष प्रभाके केन्द्रस्थानसे आनेवाली किरणें नहीं। फिर यह बात भी उतनी ही सच्ची है, किसी कदर कम नहीं, कि शिखरपर खड़े होकर देखा जाय तो मन-बुद्धिकी इस ऊँची ऊँचाई और बाह्य जीवनकी नीची चढ़ाई इन दोनोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। शिखरपरसे देखनेवाली इस दृष्टिमें लीलाकी सभी शक्तियाँ

समान हैं, सभी भगवान्‌के ही छद्मवेश हैं। पर इसके साथ यह बात और कहनी है कि इन सबको भगवत्-प्राप्तिका प्रथम साधन बनाया जा सकता है। आत्मविषयक दार्शनिक वर्णन केवल एक मानसिक निरूपण है, ज्ञान नहीं, अनुभूति नहीं; फिर भी कभी-कभी भगवान् इसे अपना स्पर्श करानेका एक साधन बना लेते हैं, और तब आश्चर्यजनक रीतिसे कोई-सा मानस-प्राकार टूट जाता है, उसके टूटनेसे कुछ देख पड़ता है, अन्तरके किसी भागमें कोई गम्भीर परिवर्तन हुआ अनुभूत होता है, प्रकृतिके क्षेत्रमें कोई ऐसी वस्तु प्रवेश करती है जो स्थिर है, सम है, अनिर्वचनीय है। कोई किसी शैलशिखरपर खड़ा होता है और वहाँसे प्रकृतिमें किसी विशाल, व्यापक, नामरहित बृहत्‌की झलक पाता या अन्तः-करणमें अनुभूत करता है; तब सहसा वहाँ कोई स्पर्श होता है, कोई प्रत्यक्ष दर्शन होता है; कोई बाढ़-सी उमड़ आती है, और मनोमय पुरुष अध्यात्ममें विलीन हो जाता है, इस तरह मनुष्य अनन्तके प्रथम प्रभावके प्रवाहमें आ जाता है। अथवा कोई किसी पवित्र नदीके किनारे कालीमाईके किसी मन्दिरके सामने खड़ा है तो वह, वहाँ क्या देखता है?— देखता है कोई मूर्ति, स्थापत्य-कलाका कोई सुन्दर नमूना, पर फिर क्षणमात्रमें न जाने कहाँसे कैसे अनपेक्षित-रूपसे वहाँ कोई सत्ता, कोई शक्ति, कोई मुखाकृति भासने लगती है जो तुम्हारे मुखकी ओर दृष्टि गड़ाकर देखती है।

यह क्या हुआ ?—तुम्हारी अन्तर्दृष्टिने जगदम्बाको देखा। कला, कविता, सङ्गीतके द्वारा इसी प्रकारके स्पर्श उस कलाकार, कवि या गायकको अथवा उसको प्राप्त हो सकते हैं जो उस शब्दके आघातको अनुभव करता है, उस मूर्तिके गूढ़ आशयतक पहुँचता है, उस स्वरसे रहस्यका कोई सन्देश पाता है जिसमें कुछ ऐसा रहस्य भरा रहता है जो कदाचित् उसके निर्माणकर्ताका भी जाना-बूझा आशय न रहा हो। लीलामें सभी पदार्थ ऐसे झरोखे बन सकते हैं जिनमेंसे कोई भी चाहे तो उस गुप्त सत्यकी झाँकी कर ले। फिर भी जबतक कोई झरोखोंमेंसे झाँकनेसे सन्तुष्ट है तबतक उसको मिलनेवाला लाभ केवल प्रथमारम्भमात्र है; किसी दिन उसे परिव्राजकका दण्ड धारणकर उस यात्राके लिये चल देना होगा जहाँ सत्य सदा व्यक्त और विद्यमान है। प्रतिच्छाया-जैसे मन्दप्रभ प्रतिबिम्बोंमें ही अटके रहना, आध्यात्मिक हिसाबसे, और भी कम सन्तोषजनक है; ये जिस ज्योतिर्बिम्बके प्रतिबिम्ब हैं उस ज्योतिका अनुसन्धान फिर होने ही लगता है। परन्तु यह सत्य और यह ज्योति जब कि हमारे अंदर भी उतनी ही हैं जितनी कि इस मृत्युसंसार-सागरके ऊपर किसी ऊर्ध्वलोकमें, तब हम इस जीवनके अनेक रूपों

और क्रियाओंका भी उसकी खोजमें उपयोग कर सकते हैं; जैसे कोई फूल, कोई प्रार्थना, कोई कर्म भगवान्‌के अर्पण किया जाता है वैसे ही हम कोई भी पदार्थ, सुन्दर सजाकर, कोई गान, कोई कविता, कोई प्रतिमा, कोई सुस्वर आलाप भी अर्पण कर सकते हैं और उसके द्वारा कोई संस्पर्श, कोई स्वीकृति, सहायता या कोई अनुभूति पा सकते हैं। और जब इस प्रकारसे उस भागवत चैतन्यमें प्रवेश हो चुकता है अथवा अंदर-ही-अंदर वह बढ़ता है तब भी जीवनमें इन सब चीजोंके द्वारा उसका प्रकाश किया जाना योगसे बाहर नहीं है; इन सब रचनाओंका फिर भी स्थान रहता है, यद्यपि इसका वास्तविक महत्त्व अन्य किसी भी भगवत्प्रीत्यर्थ काम आनेवाले पदार्थ या कर्मसे अधिक नहीं होता। कला, कविता, सङ्गीतका जो सामान्य रूप सर्व-साधारणमें देखनेमें आता है उसका असर मन और प्राणों-पर ही होता है, अध्यात्मसे उसका कोई लगाव नहीं है; पर उच्चतर ध्येयके लिये इनका उपयोग किया जा सकता है, और तब भगवान्‌के साथ हमारे चैतन्यको जोड़नेवाली अन्य सभी चीजोंके समान ये (कला, कविता, सङ्गीत) भी रूपान्तरित होकर आध्यात्मिक बन जाते हैं और तब इन्हें

भी योगके अङ्गस्वरूप स्वीकार किया जा सकता है। हर चीजको अभूतपूर्व महत्त्व प्राप्त हो सकता है पर अपनेसे नहीं, उस भाव, उस चेतनासे जिसके द्वारा उसका उपयोग किया जाता है; कारण असल चीज जो हर हालतमें जरूरी और अनिवार्य है वह एक ही है और वह है भागवत सत्यके चैतन्यबोधका बढ़ता जाना और उसीमें रहना और उसीका चिरजीवन बन जाना। २३ मार्च १९३२

मध्यवर्त्ती क्षेत्र

ये सब अनुभव एक ही प्रकारके हैं और इनमेंसे प्रत्येक-के सम्बन्धमें एक ही बात कही जा सकती है। उनमेंसे जो वैयक्तिक हैं उनके अतिरिक्त बाकी या तो ऐसे मनोकल्पित सत्य हैं जो हमारी चेतनामें उतर आते हैं जब हम सत्ताके कुछ विशिष्ट लोकोंके स्पर्शमें आते हैं, या विराट् मनोमय और प्राणमय लोकों-के सुदृढ़ आधान हैं जो इन लोकोंकी ओर उद्घाटित होते ही सहसा साधकके अंदर घुसे चले आते हैं और अपनी

कृतार्थताके लिये साधकका उपयोग करते हैं। ये चीजें जब ऊपरसे आती या अंदर प्रवेश करती हैं तो एक बड़ी शक्तिके सञ्चारका अनुभव होता है, अन्तःस्फूर्त्ति या दीप्तिमत्ता सुस्पष्टतया अनुभूत होती है, अन्तर्ज्योति और अन्तःसुखका विलक्षण संवेदन होता है तथा विशालता और शक्तिमत्ताकी छाप-सी पड़ जाती है। उस समय साधकको ऐसा अनुभव होता है जैसे वह अपनी सामान्य बद्धावस्थासे मुक्त हो गया हो और एक अद्भुत अभिनव अनुभवजगत्में सर्वाङ्गमें भरपूर, विशाल और अति उन्नत होकर प्रवेश कर रहा हो। इस प्रकारका जो कोई अनुभव होता है वह साधककी अभीप्सा, महदाकांक्षा, आध्यात्मिक पूर्णता और यौगिक सिद्धिकी कल्पनाओंके साथ आकर जुट जाता है; फिर यह भी प्रतीत होने लगता है कि यही वह परासिद्धि और कृतार्थता है जिसकी खोजमें वह था। इस चमत्कार और वेगकी ओर वह अति सहज ही बेतरह झुक पड़ता है, और इस अनुभवके रूपमें उसे जो कुछ मिलता है उसे वह उसके वास्तविक स्वरूपकी अपेक्षा कहीं बढ़कर समझ लेता है, ऐसा मान लेता है मानो उसे कोई परम वस्तु या कम-से-कम कोई असली चीज मिल गयी। इस अवस्थामें साधकको प्रायः वह आवश्यक ज्ञान और अनुभव नहीं होता जिससे उसे यह पता लगता कि यह जो कुछ अनुभव हुआ है सो बहुत ही अनिश्चित और सदोष आरम्भमात्र है; यह बात हो

सकती है कि, तुरत ही उसकी समझमें यह न आवे कि वह इस अवस्थामें भी समष्टिगत अज्ञानके ही अंदर है, समष्टि सत्यके अंदर नहीं, परम सत्यके अंदर तो नहीं ही; और यह कि इस अवस्थामें जो कोई रूपात्मक या क्रियात्मक प्रकटनशील सत्य उसके अंदर अवतरित हुए हों वे केवल आंशिक ही हैं और सो भी उसकी अभीतक सदोष बनी हुई चेतनासे होकर आनेके कारण और भी क्षीण हो गये हैं। इस बातको भी समझना सम्भवतः उससे न बन पड़े कि यह जो कुछ उसे अनुभूत या उपलब्ध हो रहा है इसे एक पक्की बात जानकर इसका यदि वह सहसा प्रयोग करने लग जाय तो इससे या तो वह गड़बड़ीमें पड़ जायगा और प्रमादमें जा गिरेगा, या किसी ऐसे आंशिक रूपमें जा अटकेगा जिसमें आध्यात्मिक सत्यका कोई अंश तो हो सकता है परन्तु यह सत्यांश, बहुत सम्भव है कि, मन और प्राणकी अतिरिक्त वृद्धिके भारसे दबकर, सर्वथा विकृत हो जाय। इसलिये जब साधक (तुरत या कुछ काल बाद) इन अनुभवोंसे अपने आपको अलग कर लेनेमें समर्थ हो, निर्विकार साक्षी चैतन्य होकर इनके ऊपर आसीन हो इनके वास्तविक स्वरूप, इनकी हद, इनकी बनावट और इनकी मिलावटको ठीक तरहसे देखे, तभी वह वास्तविक मुक्ति और उच्चतर, बृहत्तर और सत्यतर सिद्धिके मार्गपर आगे बढ़ सकता है। साधनाके प्रत्येक सोपानपर यही

करना होता है। कारण इस योगके साधकको इस प्रकार जो-जो कुछ प्राप्त होता है, चाहे वह अधिमानससे आया हुआ हो या अन्तर्ज्ञानसे अथवा सम्बुद्धमानससे या किसी उच्चतर प्राण-क्षेत्रसे, अथवा एक साथ इन सबसे ही क्यों न आया हुआ हो, है वह एक सीमाके अंदर बद्ध ही, चरम असीम नहीं है; वह परम सत्य नहीं जिसमें वह निवास कर सके, केवल एक अवस्थान्तरमात्र है। फिर भी इन अवस्थाओंमेंसे होकर ही आगे जाना होता है; कारण विज्ञानसत्य अर्थात् परम सत्यको कोई एक ही छलाँगमें या कई छलाँगोंमें नहीं पहुँच सकता, साधकको इन कई मध्यवर्त्ती अवस्थाओंको, उनके अल्पतर सत्य या प्रकाश या शक्ति या आनन्दके बन्धनमें बद्ध या आसक्त न होकर उन्हें स्थिरता, धीरता और दृढ़ताके साथ पार करके आगे बढ़ना होता है।

यहाँ जिस अवस्थाका उल्लेख है वह एक मध्यवर्त्ती अवस्था है, मन-बुद्धिकी सामान्य चेतना और वास्तविक योगज्ञानके बीचका यह एक संक्रमण-क्षेत्र है। इस क्षेत्रको कोई तुरत ही अथवा साधनाकी प्राथमिक अवस्थामें ही इसके वास्तविक स्वरूपको जानकर तथा इसके अपूर्ण प्रकाश और लुभावने परन्तु अधूरे और प्रायः अशुद्ध और परिपन्थी अनुभवोंमें अटकनेसे इनकार करके बेलाग पार कर सकता है; कोई इस क्षेत्रमें आकर विपथगामी भी हो सकता है,

नकली ध्वनियों तथा मिथ्या आदेशोंका अनुगमन कर परिणाममें आध्यात्मिक अधःपातको प्राप्त हो सकता है; अथवा कोई इस मध्यवर्त्ती क्षेत्रमें ही अपना घर बनाकर रह सकता है, आगे बढ़नेकी फिर कोई इच्छा ही न करे और यहीं किसी खण्ड सत्यका महल उठावे, उसीको पूर्ण सत्य मान ले अथवा इन संक्रमण-क्षेत्रोंमें विचरनेवाली अन्तरिक्षशक्तियोंके हाथका एक यन्त्र बना रह जाय—और यही दशा बहुत-से योगियों और साधकोंकी हुआ करती है। इसे किसी असाधारण अवस्थाकी शक्ति जानकर तथा इसके पहले-पहल प्राप्त हुए वेगको प्रचण्ड-सा अनुभव कर ये लोग उससे अभिभूत होते और जरा-सी रोशनीसे चौंधिया जाते हैं, यह किञ्चित्-सा प्रकाश उन्हें अति प्रखर प्रकाश या शक्तिका सञ्चार-सा प्रतीत होता है और इसीको वे पूर्ण भागवत शक्ति या कम-से-कम कोई बहुत बड़ी योगशक्ति मान लेते हैं; अथवा वे किसी मध्यवर्ती शक्तिको ही (जो सदा भगवान्‌की शक्ति ही नहीं होती) परमा शक्ति और किसी मध्यवर्ती चेतनाको ही परमका साक्षात्कार मान लेते हैं। अनायास ही वे यह सोचने लगते हैं कि अब तो हम पूर्ण विराट् चैतन्यमें आ गये जब कि यथार्थमें वे उस विराट्के केवल एक बाह्यप्रदेशमें अथवा उसके किसी एक क्षुद्र अंशमात्रमें या मनके या प्राणके किन्हीं बृहत् क्षेत्रोंमें या किन्हीं बृहत् सूक्ष्म भौतिक क्षेत्रोंमें ही उनके क्रियात्मक सम्बन्धसे जुटकर प्रविष्ट

हो पाते हैं। अथवा उन्हें ऐसा भी प्रतीत होता है मानो वे किसी पूर्णतया प्रबुद्ध चैतन्यमें प्रविष्ट हों जब कि यथार्थमें वे किसी मनोमय या प्राणमय क्षेत्रके किञ्चित् प्रकाशके द्वारा ऊपरसे आनेवाली चीजोंको अधूरे तौरपर ग्रहण कर रहे हों; क्योंकि बात यह है कि ऊपरसे जिन अर्थोंका अवतरण होता है वे इन क्षेत्रोंमेंसे होकर ज्यों-ज्यों नीचे आते हैं त्यों-त्यों अपकृष्ट और प्रायः विकृत होते जाते हैं; साधकके तदभिमुख मन और प्राणको भी जो कुछ इस प्रकार प्राप्त होता है उसे वह कुछ-का-कुछ समझता या उसकी भद्दी नकल उतारता है अथवा अपनी ही कल्पनाओं, भावनाओं और वासनाओंको उसमें ऐसे मिला देता है कि इन्हें वह अपना समझ ही नहीं पाता और इन्हें ऊपरसे प्राप्त होनेवाले सत्यका अंश मान लेता है, क्योंकि ये चीजें उसमें मिल जाती हैं, उसके आकारका अनुकरण करती हैं, उसके प्रकाशसे प्रकाशित होती हैं और इस साहचर्य और पराये प्रकाशसे अति रञ्जित होकर अवास्तव महत्त्वको प्राप्त होती हैं।

अनुभवके इस मध्यवर्ती क्षेत्रमें इससे भी बड़े और संकट उपस्थित होते हैं। कारण, इस अवस्थामें साधक अपनी चेतनाको जिन क्षेत्रोंकी ओर उद्घाटित किये रहता है उन क्षेत्रोंसे, पहलेकी तरह कोई झलक और प्रभाव ही नहीं बल्कि प्रत्यक्ष उन क्षेत्रोंका पूर्ण अंकन ही होता है, और

नाना प्रकारकी नाना कल्पनाएँ, प्रेरणाएँ, सूचनाएँ और रचनाएँ आया करती हैं जो प्रायः परस्पर सर्वथा विरोधी, विसंगत अथवा विपरीत हुआ करती हैं, पर वे भी इस ढंगसे आ उपस्थित होती हैं कि उनकी न्यूनता और परस्परभिन्नता उस ढंगके प्रबल वेग, सत्यके आभास और युक्तिके प्राचुर्य अथवा निश्चयकी प्रतीतिसे बिलकुल ढक ही जाती है। इस प्रतीति, सजीव बोध तथा प्राचुर्य और समृद्धि-के दिखावसे साधकका मन पराभूत होकर बड़ी विकलता-को प्राप्त होता है और इस विकलताको साधकका मन कोई महान् दैवी संघटन और शासन मान लेता है; अथवा वह निरन्तर नवीन प्रयोग और परिवर्त्तनके चक्कर काटता रहता है और इसीको उन्नतिकी अति क्षिप्र गति मान लेता है, पर इससे वह किसी भी किनारे नहीं लगता। अथवा इसके विपरीत वहाँ यह भी आशंका है कि वह किसी आपातरमणीय, पर यथार्थमें अविद्याकृत, मायाके हाथका यन्त्र बन जाय। कारण, इन मध्यवर्ती क्षेत्रोंमें सर्वत्र अनेकानेक उपदेव या बलवान् दैत्य अथवा निम्न कोटिकी सत्तावाले अन्य जीव हैं जो इस भूलोकमें अपनी सृष्टि चाहते हैं, अपना कोई भाव पार्थिव रूपमें व्यक्त करना चाहते हैं अथवा अपने मन और प्राणको किसी रूपमें यहाँ बलात् स्थिर करना चाहते हैं और इसलिये ये साधकके विचार और संकल्पको अपने काममें लगाने, अपने प्रभावमें ले

आने और फिर अपने अधिकारमें भी कर लेने तथा इस हेतुसे उसे अपना यन्त्र बना लेनेको सदा उत्सुक रहते हैं। ये वे असुरात्मा नहीं हैं जो वास्तवमें साधनाके वैरी हैं जिनसे होनेवाला भय सर्वप्रसिद्ध है, जिनका एकमात्र हेतु अस्त-व्यस्त कर डालना, कूट-कपट रचना और साधनाको नष्ट-भ्रष्ट करना तथा सर्वनाशकारी अनाध्यात्मिक प्रमादकी सृष्टि करना होता है। ऐसे असुरात्माओंमेंसे किसीके भी चंगुलमें कोई साधक फँस जायगा तो वह योग-मार्गसे च्युत हो ही जायगा। ये असुरात्मा प्रायः देवनामरूप धारणकर साधकोंके सामने आते हैं। इसके विपरीत यह भी सर्वथा सम्भव है कि इस क्षेत्रमें प्रवेश करते ही साधकको कोई दैवी शक्ति मिल जाय जो उसकी मदद करे और उसे रास्ता दिखावे जबतक वह महत्तर सत्यको ग्रहण करनेमें समर्थ न हो; परन्तु फिर भी इतनेसे ही इस क्षेत्रमें हो सकनेवाले प्रमादों और पदस्खलनोंसे बचनेका सुनिश्चित उपाय नहीं हो जाता; क्योंकि यहाँ इससे अधिक आसान बात और कोई नहीं है कि इन क्षेत्रोंकी शक्तियाँ या असुरात्मा ही भागवत शब्द और रूपका अनुकरण कर साधकको धोखा दें और विपथगामी बना दें अथवा साधक स्वयं ही, अपने ही मन, प्राण या अहंकारकी क्रिया और रूपको भगवान्‌की क्रिया और रूप मान ले।

कारण, यह मध्यवर्त्ती क्षेत्र खण्ड सत्योंका क्षेत्र है—

और केवल इतनेसे ही कोई हरज नहीं था, क्योंकि विज्ञानके नीचे पूर्ण सत्य कहीं है ही नहीं; परन्तु यहाँके खण्ड सत्यमें सत्यका अंश प्रायः इतना अल्प अथवा कार्यतः इतना सन्दिग्ध होता है कि अस्तव्यस्तता, भ्रान्ति और प्रमादके लिये बड़ा भारी मैदान खाली पड़ा रहता है। साधक यह समझता है कि हमारी चेतना अब पहले-सी ही छोटी-सी चीज नहीं रह गयी, क्योंकि अब वह अपने-आपको किसी बृहत् सत्ता या महती शक्तिसे युक्त अनुभव करता है यद्यपि वह है अभी पहलेकी ही चेतनामें, जो वास्तवमें नष्ट नहीं हुई है। वह अपने ऊपर किसी ऐसी शक्ति, सत्ता या सामर्थ्यका अधिकार या प्रभाव अनुभव करता है जो उससे महान् है, वह उसीका यन्त्र बननेकी इच्छा करता है और यह समझता है कि अब तो हम अहंकारसे मुक्त हो गये; परन्तु यह अनहंकारिताकी भ्रान्ति प्रायः किसी बढ़े-चढ़े हुए अहंकारको छिपाये रहती है। ऐसी भावनाएँ उसे आक्रान्त कर उसके मनको वेग प्रदान करती हैं, जो अंशतः ही सत्य होती हैं और विश्वासके अतिरेकके साथ उनका दुरुपयोग करनेसे वे मिथ्या भी हो जाती हैं; इससे चेतनाके कार्य दूषित हो जाते हैं और भ्रान्तिकी ओरका रास्ता खुल जाता है। ऐसी सूचनाएँ आती हैं और ये कभी-कभी बड़ी ही अद्भुत और रम्य होती हैं, जिनसे साधकको निज महत्त्व सूचित होता और वह उससे प्रसन्न होता है, अथवा ये सूचनाएँ उसकी इच्छाके

अनुकूल होती हैं और वह इन्हें बिना जाँचे या बिना समझे-बूझे, युक्तायुक्तका विवेक किये बिना ही ग्रहण कर लेता है। इनमें जो कोई बात सच भी होती है तो अपनी सीमा और असलियतसे इतनी चढ़ी-बढ़ी और फैलायी हुई होती है कि उससे प्रमाद पैदा होना शुरू हो ही जाता है। यह वह क्षेत्र है जिसे बहुतेरे साधकोंको पार करना पड़ता है, जिसमें बहुतेरे दीर्घकालतक भटकते रहते हैं और जिसमेंसे बहुत-से तो कभी बाहर निकल ही नहीं पाते। विशेषकर जिनकी साधना प्रधानतया मन और प्राणके क्षेत्रोंमें रहती है, उन्हें यहाँ बड़ी कठिनाइयोंका और बड़े भयका सामना करना पड़ता है; केवल वे ही साधक, जो सरलता और सावधानीके साथ किसी नियत अनुशासनका अनुवर्त्तन करते हैं अथवा जिनकी प्रकृतिमें अन्तरात्माका प्राधान्य स्थापित हो चुका है, इस मध्यवर्त्ती क्षेत्रसे इस प्रकार निकल जाते हैं जैसे कोई किसी सुस्पष्ट चिह्नोंसे चिह्नित सुनिश्चित मार्गको पार करे। केन्द्रगत सचाई और मूलगत विनम्रतासे भी बड़े भय और क्लेशसे रक्षा हो जाती है। फिर वह साधक शीघ्रतापूर्वक इस क्षेत्रसे निकलकर उस विमलतर प्रकाशमें प्रवेश करता है जहाँ भी बहुत कुछ मिलावट, अनिश्चितता और संघर्षकी अवस्था तो रहती है पर तो भी जहाँसे विश्वसत्ताके सत्यका मार्ग ही उद्भासित होता है, माया और अविद्याके तममिश्रित प्रकाशका दीर्घकालीन सहवास नहीं।

मनुष्यकी सामान्य चेतनाकी सीमाके ठीक उस ओर चेतनाका जो स्वरूप है उसका, उसके मुख्य अंगों और सम्भावनाओंसहित, सामान्यरूपसे, इसलिये वर्णन किया गया कि यही वह स्थान है जहाँ साधकोंको इस प्रकारके अनुभव हुआ करते हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न प्रकारके साधक भिन्न-भिन्न प्रकारसे यहाँ पेश आते हैं और कभी एक प्रकारकी सम्भावनाओंकी ओर झुकते हैं तो कभी दूसरे प्रकारकी सम्भावनाओंकी ओर। जिस प्रसंगसे यह चर्चा यहाँ की जा रही है उस प्रसंगमें, साधकका इस क्षेत्रमें जो प्रवेश हुआ वह विश्वचैतन्यको अवतारित कराने अथवा बलात् उसमें प्रवेश करनेके प्रयत्नसे हुआ प्रतीत होता है—इस बातको चाहे जिस ढंगसे कहा जाय अथवा स्वयं प्रयत्न करनेवालेको अपने इस प्रयत्नका बोध हो या न हो अथवा बोध भी हो तो चाहे इस रूपमें हो या न हो, इससे कुछ नहीं आता-जाता, साररूपसे बात जो कुछ है वह यही है। जिस क्षेत्रमें, इस प्रसंगमें, साधकने प्रवेश किया था वह अधिमानसक्षेत्र नहीं था, क्योंकि सीधे अधिमानसक्षेत्रमें पहुँचना एक असम्भव बात है। अधिमानस है तो विश्वचैतन्यके अखिल कर्मके पीछे और ऊपर परन्तु आरम्भमें उसके साथ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध ही हो सकता है; वहाँसे जो चीजें आती हैं वे मध्यवर्त्ती क्षेत्रोंमेंसे होकर वृहत्तर मनःक्षेत्रमें, प्राणक्षेत्रमें, सूक्ष्म भौतिक क्षेत्रमें आती हैं और आते-आते बहुत परिवर्त्तित और क्षीण

हो जाती हैं; यहाँतक कि यहाँ आनेपर उनमें वैसी पूर्ण शक्ति और सत्य नहीं रह जाता जैसा कि अधिमानसके अपने क्षेत्रमें रहता है। अधिकांश गतियाँ तो अधिमानससे नहीं बल्कि नीचेके उच्चतर मानससे आती हैं। ये अनुभव जिन कल्पनाओंसे बिधे हुए हैं और जिनके बलपर उनके सत्य होनेका दावा किया गया-सा प्रतीत होता है वे कल्पनाएँ अधिमानसकी नहीं हैं बल्कि उच्चतर मानसकी हैं और कहीं-कहीं संबुद्ध मानसकी; परन्तु उनमें भी निम्न मानस और प्राणके क्षेत्रोंकी सूचनाएँ मिली हुई हैं और प्रयोगावस्था-में बुरी तरहसे क्षीण हुई हैं अथवा बहुत-सी जगह इनका प्रयोग अस्थानमें ही हुआ है। पर इससे भी कुछ नहीं बिगड़ता था क्योंकि सामान्यतः ऐसा होता ही है और इसमें-से होकर ही आगेके ऐसे स्वच्छतर वातावरणमें पहुँचना होता है जहाँ सब बातें अधिक सुव्यवस्थित हैं और सुदृढ़ आधारपर स्थित हैं। परन्तु यहाँ जिस क्रियाकी बात है उसमें शीघ्रता और उत्सुकता, आत्मसम्मान और आत्मविश्वासकी अति हो गयी है, अपरिपक्क अवस्थाको ही निश्चय मान लिया गया है, और भरोसा किया गया है और किसीका नहीं बल्कि अपने ही मनके या ऐसे "भगवान्" के परिचालनके ऊपर जो अत्यल्प ज्ञानकी अवस्थामें भावित या प्रतीत होते हैं। भगवान्‌के सम्बन्धमें साधककी भावना और अनुभूति मूलतः, वास्तविक हो तो भी, साधना-

की इस अवस्थामें कभी पूर्ण और विशुद्ध नहीं होती; उसमें नाना प्रकारके मन और प्राणोंके अध्यारोप मिले रहते हैं और भगवदादेशके साथ सब तरहकी ऐसी बातें हिली-मिली रहती और भगवदादेशका अंग समझी जाती हैं जो आती हैं भगवान्‌से सर्वथा भिन्न किन्हीं अन्य स्थानोंसे ही। इस अवस्थामें भगवान् प्रायः परदेके अंदर नेपथ्यसे ही कार्य करते हैं, फिर भी यदि यह मान लिया जाय कि भगवान्‌का प्रत्यक्ष आदेश भी होता है तो भी यह आदेश केवल कभी-कभी है और शेष सब कुछ प्रकृतिके गुणोंका खेल ही होता है, जिसमें प्रमाद और स्खलन तथा अज्ञानका संमिश्रण अबाधितरूपसे होता रहता है और ऐसा इसलिये होने दिया जाता है कि जिसमें जगत्-शक्तियोंके द्वारा साधक परीक्षित हो और वह अनुभवसे सीखे, अपूर्णतासे होकर पूर्णताकी ओर उन्नत हो—यदि उसमें योग्यता हो, सीखनेकी इच्छा हो तो अपनी भूलों और गलतियोंको आँख खोलकर देखे, उनसे सीखे और लाभ उठावे, जिसमें विशुद्धतर सत्य, ज्योति और ज्ञानकी ओर आगे बढ़ सके।

इस प्रकारकी मनोवस्थाका यह परिणाम होता है कि इस संमिश्र और संशय-सङ्कुल क्षेत्रमें जो कुछ भी प्रतीत होता है उसे साधक कुछ ऐसा मानने लगता है मानो यही परम सत्य और विशुद्ध भगवत्संकल्प है; यहाँ जो कल्पनाएँ या सूचनाएँ सतत हुआ करती हैं उन्हें साधक 'इदमित्थं'

समझता है और उन्हें इस प्रकार प्रकट करता है मानो समग्र और अबाधित सत्य ये ही कल्पनाएँ या सूचनाएँ हों। इस अवस्थामें चित्तकी ऐसी धारणा हो जाती है कि हम व्यक्तित्वके अतीत हो गये, अहंकारसे मुक्त हो गये, यद्यपि वास्तविक अवस्था यह रहती है कि उसकी मनोवृत्तिका सारा रुख, उसका वैखरीद्वारा प्रकाश और भाव, ये सभी बातें अति प्रचण्ड अहंमन्यतासे भरी होती हैं और फिर भी इन बातोंको साधक यों ठीक समझ लेता है कि वह समझता है कि हम तो भगवान्‌के हाथके यन्त्र हैं और इसलिये हम जो कुछ सोचते और करते हैं वह यन्त्रके नाते, भगवत्प्रेरणासे ही सोचते और करते हैं। ऐसी-ऐसी कल्पनाएँ झोंकी जाती हैं जो मन-बुद्धिके लिये तो ठीक हो सकती हैं, पर अध्यात्मदृष्टिमें जिनकी कोई सत्ता नहीं; परन्तु फिर भी वे ऐसे ढंगसे कही जाती हैं मानो वे अध्यात्मके ही ऐकान्तिक सत्य हों। उदाहरणार्थ, समताको लीजिये जो उस दृष्टिसे एक मनोधर्म है—वह यौगिक समता नहीं जो बिलकुल दूसरी चीज है—अथवा पवित्रात्मारूपसे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हो रहनेका जो दावा किया जाता है उसे देखिये, किसीको गुरु माननेसे इनकार करना या भगवान् और मानुषी तनुका आश्रय किये हुए भगवान्‌में भेद मानना, इत्यादि। ये सब बातें ऐसी हैं जिनपर मन और प्राण अड़े रह सकते हैं और इन्हें सिद्धान्तका रूप दे सकते

हैं, और वे इन्हीं सिद्धान्तोंको धार्मिक जीवनमें और आध्यात्मिक जीवनमें भी बलात् ले आनेका प्रयत्न कर सकते हैं, पर ये बातें स्वरूपतः आध्यात्मिक नहीं हैं और न आध्यात्मिक हो सकती हैं। प्राणके क्षेत्रोंसे भी सूचनाएँ आने लगती हैं— चमत्कृतिजनक मायिक या विलक्षण कल्पित चित्रोंका ताँता-सा लग जाता है, विविध गूढ़ार्थव्यञ्जन, अन्तर्ज्ञानाभास और आगे होनेवाले अनुग्रहोंके आश्वासन, ये सब बातें हुआ करती हैं जो मनको विमूढ़ कर देती हैं और प्रायः ऐसे ढंगपर साधकको उतारती हैं कि साधकको यह सब प्रिय लगता है और उसका अहंकार और अहंमन्यत्व बेतरह बढ़ जाता है; परन्तु प्राणक्षेत्रसे होनेवाली इस तरहकी ये सब बातें किसी सच्चे साधन-सोपानकी आध्यात्मिक या किसी अन्य अन्तर्जगत्की वास्तविक सत्ताओंपर अवलम्बित नहीं होतीं। इस क्षेत्रमें इस तरहकी बातोंकी भरमार होती है और यदि इन्हें मौका दिया जाता है तो साधकके ऊपर ये चारों ओरसे घिर आती हैं; परन्तु यदि साधकका पक्का इरादा परमको ही प्राप्त करना है तो उसे चाहिये कि वह इन चीजोंको केवल देखता चले और आगे बढ़ता चले। यह बात नहीं है कि इन बातोंमें कुछ भी सत्यांश नहीं है, पर बात यह है कि एक सत्यके पीछे यहाँ नौ असत्य सत्यका रूप धारण करके आया करते हैं और केवल वही पुरुष बिना लुढ़के या बिना इस गोरखधन्धेमें फँसे अपना रास्ता

निकाल सकता है जो अन्तर्जगत्‌की पथवीथियोंपर चलनेका अभ्यासी हो और जिसे दीर्घकालके निरन्तर अभ्यासके अनुभवसे वैसा चातुर्य प्राप्त हुआ हो। इस मध्यवर्ती क्षेत्रमें ऐसा होना सम्भव है कि चित्तकी सब वृत्तियाँ, इन्द्रियोंसे होनेवाले सब कर्म और मुखसे निकलनेवाले सब शब्द इस क्षेत्रके प्रमादोंसे इस तरह पूर्ण हो जायँ कि फिर इस रास्तेपर और आगे चलना भगवान्‌से और योगसे बहुत दूर चले जाना ही होता है।

यहाँ अब भी साधकको यह स्वतन्त्रता है कि वह चाहे तो इन अनुभवोंसे प्राप्त होनेवाले बहुत कुछ मिलावटी परिचालनको ही मानता चला जाय या सच्चे मार्गनिर्देशको ग्रहण करे। हर कोई, जो योगके अनुभवक्षेत्रमें प्रवेश करता है, अपने ही मार्गका स्वतन्त्रतापूर्वक अनुसरण कर सकता है; पर यह योगमार्ग चाहे जिसके अनुसरण करनेकी चीज नहीं है, यह केवल उन्हींके लिये है जो इसके लक्ष्यका अनुसन्धान करना स्वीकार करते हैं और निर्दिष्ट मार्गपर चलते हैं जिस मार्गपर सुनिश्चित पथप्रदर्शनका होना अनिवार्य है। इस मार्गपर अन्ततक चले चलना तो क्या, कुछ दूर भी, विना किसी सत्साहाय्य या सत्प्रभावको स्वीकार किये अपने आन्तरिक बल और ज्ञानके भरोसे, यदि कोई समझता है कि, हम चल सकेंगे तो उसका यह समझना बिलकुल व्यर्थ है। दीर्घकालसे जिन योगोंका अभ्यास होता चला आया है

उन सामान्य योगमार्गोंका अवलम्बन भी बिना गुरुकी सहायता-के ठीक तरहसे नहीं बनता। फिर यह योग तो ऐसा है कि इसमें ज्यों-ज्यों आगे बढ़िये त्यों-त्यों ऐसे देश मिलेंगे जिनमें अबतक किसीने पैर नहीं रखा था और ऐसे-ऐसे क्षेत्र मिलेंगे जिन्हें अबतक किसीने जाना भी नहीं था; ऐसे इस योगमें गुरुकी सहायताके बिना काम चले, यह तो नितान्त असम्भव है। यहाँ जो कर्म करनेका विधान किया जाता है वह कर्म भी चाहे जिस योगमार्गके चाहे जिस साधकके करनेका कर्म नहीं है, न यह 'निर्विशेष' ब्रह्मका ही कर्म है—जो ब्रह्म कोई क्रियात्मक शक्ति नहीं बल्कि जो विश्वकी सभी क्रियाओंका एक-सा उदासीन आधारमात्र है। इस योगमें कर्मका जो विधान है वह उन्हीं लोगोंके लिये साधनाका एक क्षेत्र है जिन्हें और किसी नहीं बल्कि इसी योगके कठिन और जटिल मार्गको तै करना है। यहाँ सब कर्म स्वीकृति, साधना और शरणागतिकी भावनासे करना होता है, वैयक्तिक माँगों और शर्तोंके साथ नहीं बल्कि सावधान और सचेत रहकर निर्दिष्ट नियन्त्रण और परिचालनकी अधीनता स्वीकार करके। अन्य किसी भावनासे किया हुआ कर्म वातावरणमें अनाध्या-त्मिक अस्तव्यस्तता, विप्लव और उत्पात मचानेका कारण होता है। आस्थापूर्वक किये हुए कर्ममें भी प्रायः अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, अनेक प्रमाद होते हैं और अनेक प्रकारके स्खलन भी होते हैं। कारण, इस योगमें

साधकोंको धीरगतिसे आगे ले जाना होता है और कर्मका कुछ क्षेत्र उनके अपने प्रयासके लिये भी छोड़ देना होता है जिसमें मन-प्राणके स्वाभाविक अज्ञानसे, स्वानुभवको बढ़ाते हुए साधक बाहर निकलें और उदारभाव और विशुद्ध संबुद्ध ज्ञानको प्राप्त हों। पर यदि अज्ञानकी सीमा पार करते ही जो क्षेत्र मिलता है वहाँ पहुँचनेपर कोई पथप्रदर्शक न मिले तो साधक भटकता रहेगा और सदा इस बातका भय बना रहेगा कि योगकी मूल भित्ति ही छूट जाय और साधक उस स्थितिसे ही च्युत हो जाय कि जिस स्थितिमें ही योगमूलक कर्म किया जा सकता है। इस मध्यवर्त्ती क्षेत्रसे होकर जानेका जो मार्ग है वह बड़ा विकट है। इस मार्गसे हर किसीको जाना ही पड़ता हो, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि बहुतेरे इससे अधिक संकुचित पर अधिक सुनिश्चित मार्गसे पार हो जाते हैं। मध्यवर्त्ती क्षेत्रके विस्तृत मार्गकी यह विशेषता है कि इस मार्गसे होकर जानेमें बहुत विस्तृत और सुसमृद्ध सर्जन होनेकी सम्भावना रहती है; पर यदि यहाँके विघ्नोंसे टकराकर कोई नष्ट-भ्रष्ट हो गया तो उसका उठना बड़ा कठिन होता है, बड़ा कष्टसाध्य होता है, बहुत समय और बड़े संघर्ष और प्रयाससे ही साध्य होता है।

६ नवम्बर १९३२

समष्टि-सत्य और समष्टि-अज्ञान

कोई अज्ञान ऐसा नहीं है जो समष्टिके अज्ञानका अंश न हो, व्यष्टिमें केवल इसकी आकृति और गति मर्यादित हुई रहती है और समष्टिमें यह अज्ञान उस विश्वचैतन्यका सम्पूर्ण कार्य है जो परम सत्यसे पृथक् होकर उस निम्नगा प्रकृतिमें क्रियाशील हो रहा है जिसमें सत्य विपर्यस्त, क्षयग्रस्त, असत् और प्रमादसे मिश्रित और आच्छादित हुआ करता है। समष्टि-सत्य समष्टि-चैतन्यकी बाह्य पदार्थोंको देखनेकी वह ज्ञान-दृष्टि है जिसमें पदार्थोंका यथातथ्य स्वरूप और भगवान्के साथ उनका वास्तविक सम्बन्ध तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध बोध होता है।

यौगिक समता और मानसिक समता

यौगिक समता, अन्तरात्माकी वह समता, वह समवर्त्तिता है जिसकी बुनियाद सर्वत्र एक आत्मा, सर्वत्र एक भगवान्के होनेकी वह बुद्धि है जो नामरूपात्मक जगत्के नानात्व, तारतम्य और वैषम्यके होते हुए भी सर्वत्र उसी एकको देखा करती है। समताका जो मनोगत तत्त्व है वह इन पार्थक्यों, भेदों और असमानताओंको देखकर भी न देखने या उन्हें नष्ट करनेमें प्रयत्नवान् होता

है, इस प्रकार प्रवृत्त होता है मानो सब कोई बराबर ही हों या ऐसा यत्न करता है कि जिससे सब कोई बराबर हो जायँ। रामकृष्ण परमहंसके भतीजे हरीशकी-सी यह बात है जो रामकृष्णसे स्पर्श पाते ही चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगा कि 'रामकृष्ण, तुम ब्रह्म हो और मैं भी ब्रह्म हूँ; तुममें-हममें कोई अन्तर नहीं है।' आखिर रामकृष्णको, जब उन्होंने देखा कि इसका प्रलाप किसी तरह बंद नहीं होता है तब, अपनी शक्ति उससे खींच लेनी पड़ी। अथवा यह बात उस शिष्यकी-सी समझिये जो महावतका कहना न मानकर हाथीके सामने यह कहता हुआ अकड़कर खड़ा रहा कि 'मैं ब्रह्म हूँ।' आखिर हाथीने उसे अपनी सूँड़से पकड़कर उठाया और एक किनारे रख दिया। जब उसने अपने गुरुके पास जाकर इसकी शिकायत की तब गुरुने कहा— 'हाँ, तुम ब्रह्म तो हो पर तुमने महावत-ब्रह्मकी बात क्यों नहीं मानी? इसीलिये हाथी-ब्रह्मको तुम्हें उठाकर एक किनारे रख देना पड़ा जिसमें तुम कुशलसे रहो।' व्यक्त जगत्में सत्यके दो पहलू होते हैं, दोनोंमेंसे किसी एककी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मौलिक भेद

इस शिक्षामें (अन्य शिक्षाओंकी अपेक्षा) जो मुख्य विशेषता है वह यह है कि एक क्रियात्मक (Dynamic) भागवत सत्य है (जिसका नाम विज्ञान है) और वह सत्य अज्ञानके इस वर्त्तमान जगत्में अवतरित हो सकता है, और एक नवीन सत्य-चैतन्यका सर्जन कर जीवनको भागवत चैतन्यका जीवन बना सकता है। प्राचीन योग सब मन-बुद्धिसे सीधे निरपेक्ष परब्रह्मकी ओर चलते हैं और सारी क्रियात्मक सत्ताको अविद्या, माया या लीला मानते हैं; उन योगोंका यह प्रतिपादन है कि जहाँ तुम निश्चल निरपेक्ष ब्रह्मको प्राप्त हुए तहाँ फिर उस विश्व-ब्रह्माण्डका तुम्हारे लिये अभाव ही हो जाता है।

उच्चतर और निम्नतर सत्य

"यदि विज्ञान-सत्य ही सत्य है और बाकी सब मिथ्या, तो फिर विज्ञानके नीचे जो अधिमानस है वह विज्ञानकी प्राप्तिका मार्ग कैसे हो सकता है ?"

मैंने यह तो नहीं कहा है कि विज्ञानसत्यके अतिरिक्त बाकी सब मिथ्या है। मैंने यह कहा है कि विज्ञानके नीचे कहीं भी पूर्ण सत्य नहीं है। विज्ञानसत्य जो

संपूर्ण और सुसमन्वित है, अधिमानसमें आकर कई अंशोंमें बँट जाता है, एक सत्यके कई सत्य हो जाते हैं जो एक दूसरेके मुकाबले अपनी-अपनी पूर्णताके साधनमें प्रवृत्त होते हैं, अपनी-अपनी सृष्टि निर्माण करना चाहते हैं या विभिन्न पृथक्-पृथक् सत्यों और सत्योंकी शक्तियोंके संघातसे बने हुए जगतोंमें अपनी पृथक् सत्ताके साथ रहना या अपना हिस्सा प्राप्त करना चाहते हैं। अधिमानससे और नीचे उतरनेपर सत्यका यह विभाजन इतना स्पष्ट हो जाता है कि उसमें प्रमाद, झूठ, अविद्या और अन्तमें स्थूल पार्थिव रूपका तमसाच्छन्न जड़त्व भी आ जाता है। यह जगत् जड़त्वसे, अचेतनासे ही इस रूपमें निकल आया है और इसने अपने अंदरसे मन-बुद्धिको विकसित किया है, यह मन-बुद्धि अविद्याका एक यन्त्र है और बहुविध बन्धन, संघर्ष, वैकल्य और प्रमादके बीचमेंसे रास्ता निकालकर परम सत्यके समीप पहुँचना चाहती है। अधिमानसको फिरसे पा लेना यदि किसीसे पूरे तौरपर बन पड़े (जो देहमें ही बद्ध-पुरुषोंके लिये सुगम नहीं) तो यह विज्ञान-सत्यके द्वारपर, उसमें प्रवेश करनेकी प्रत्याशासे खड़े होना ही तो है।

७ नवम्बर १९३२

श्रद्धाका प्रश्न

इन दो धारणाओंका मेल कैसे बैठे ?—

(१) सब प्रकारकी प्रवृत्तियों और घटनाओंके पीछे भगवान्‌का ही संकल्प रहता है।

(२) भगवान्‌का संकल्प व्यक्त जगत्‌में विकृत हुआ है।

श्रद्धाके दो प्रकार हैं—

एक वह श्रद्धा है जो समत्वकी साधिका है और दूसरी वह श्रद्धा जो भगवत्-सिद्धिकी साधिका है।

ये दो श्रद्धाएँ भगवान्‌के दो विभिन्न स्वरूपोंकी अनुवर्तिनी हैं।

भगवान् विश्वके परे परम पुरुष हैं और विश्वमें विश्व-पुरुष या विश्वात्मा हैं।

सिद्धिका संकल्प परमपुरुषका संकल्प है।

विश्वात्माका कार्य देश-काल-वर्तमानके अनुसार सृष्टि-चक्र चलाना है। यह विश्वात्माकी ही इच्छाशक्ति है जो इस जगत्‌की प्रत्येक घटना और प्रत्येक गतिमें व्यक्त हो रही है।

विश्वात्माकी यह इच्छाशक्ति हम लोगोंके सामान्य बोधमें ऐसी नहीं प्रतीत होती जो अपनी इच्छासे स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करती हो; इसका कार्य इन सब जीवों या प्राणियोंके द्वारा, जगत्‌की शक्तियोंके घात-प्रतिघातके द्वारा, इन शक्तियोंके नियम और परिणामोंके द्वारा होता है—इसका जो वास्तविक स्वरूप है अर्थात् यह जो एक स्वतन्त्र शक्ति है और सामान्य गुणकर्मविपाकके ऊपर उसकी परिचालिका शक्ति है, उसकी प्रतीति तो तभी होती है जब हम अपने-आपको उसकी ओर उन्मुख करते और अपने सामान्य बोध या चेतनासे ऊपर निकल आते हैं।

तब हम यह भी देख सकते हैं कि इन गुण-कर्मोंकी क्रीडामें भी और इनके विकृत होते हुए भी

यह विश्व-शक्ति परिणामतः परम पुरुष श्रीभगवान्के संकल्पकी सिद्धिकी ओर ही अग्रसर हो रही है।

विज्ञान-सत्यके अवतरणका सिद्ध होना परम पुरुषका ही संकल्प है और उसको हमें साधना है। जिस परिस्थिति-मेंसे होकर हमें यह कार्य करना है वह परिस्थिति है अपरा चेतनाकी, जिसमें हमलोगोंकी अज्ञता, दुर्बलता और प्रमादशीलतासे तथा गुण-कर्मोंके परस्पर संघर्षसे वस्तुओंकी विकृति हुआ करती है। इसीलिये श्रद्धा और समताका होना अनिवार्य है।

हम लोगोंको ऐसी श्रद्धा रखनी होगी कि हम लोग अज्ञ, प्रमादशील और दुर्बल हैं तो भी, और असुरात्मा हमारे ऊपर आक्रमण किया करते हैं तो भी, तथा अभी आपाततः विफलता देख पड़ती है तो भी, श्रीभगवान्-का संकल्प हमें, प्रत्येक घटनाके द्वारा, अन्तमें होनेवाली संकल्पसिद्धिकी ओर ही लिये जा रहा है। इस श्रद्धासे हमें समत्व प्राप्त होगा; इस श्रद्धाका यह स्वरूप है कि जो कुछ भी हो सो स्वीकार है—अवश्य ही इस रूपसे नहीं कि जो कुछ है बस वही है, बल्कि इस रूपसे कि प्राप्त-अवस्थासे होकर ही आगे बढ़ना है। ऐसी समता जब स्थापित हो लेती है तब उससे बल पाकर एक दूसरे प्रकारकी श्रद्धा भी आकर

जम सकती है जो फिर विज्ञान-चैतन्यसे प्राप्त होनेवाली किसी शक्तिसे संयुक्त होकर क्रियाशील हो वर्तमान देशकाल-का अतिक्रम कर भविष्यका निर्धारण कर सकती है और परम पुरुष श्रीभगवान्के संकल्पकी सिद्धिका अवतरण करानेमें सहायक हो सकती है।

विश्वपुरुषकी ओर प्रवाहित होनेवाली जो श्रद्धा है उसकी कार्य-शक्ति गुणकर्मविपाकसे प्रस्तुत परिस्थितिकी आवश्यकताओंसे बँधी रहती है।

इस प्रकारके सब बन्धनोंसे सर्वथा विमुक्त होनेके लिये परम पुरुष श्रीभगवान्के ही समीप पहुँचना होता है।

२४ जून १९३१

श्रीभगवान्का त्रिविध स्वरूप

परमपुरुष, समष्टि (विश्व) पुरुष और व्यष्टिपुरुषका भेद कोई मेरा आविष्कार नहीं है, न यह ज्ञान भारतवर्ष या एशियाकी ही कोई खास चीज है—प्रत्युत यूरोपकी भी यह एक सर्वमान्य शिक्षा है जो कैथोलिक सम्प्रदायमें गुप्तज्ञान-परम्परारूपसे प्रचलित है, और यही वहाँ त्रिमूर्ति अर्थात्

पिता, पुत्र और पवित्रात्मा (होली घोस्ट) का प्रामाणिक अर्थ माना जाता है तथा यूरोपकी योगपथानुगम्य अनुभूतियोंमें इसकी प्रसिद्धि भी है। सभी ऐसे आध्यात्मिक सम्प्रदायोंमें जो परमेश्वरकी सर्वत्र सत्ता मानते हैं, यह ज्ञान बीजरूपसे है—भारतवर्षके वेदान्तानुभवमें है और इस्लामके योगमार्गमें भी है (केवल सूफियोंमें ही नहीं अन्य सम्प्रदायोंमें भी)—मुसलमान तो केवल दो या तीन ही नहीं बल्कि भगवान्के कई स्तर मानते हैं जिन्हें पार करनेपर परमकी प्राप्ति होती है। अब यह जो त्रिविधताकी बात है इसके सम्बन्धमें यह जानना चाहिये कि व्यष्टि, दिक्कालावच्छिन्न समष्टि, और वह चीज जो इस समष्टिव्यवस्थान या किसी समष्टिव्यवस्थानके परे है, इन तीनोंमें अवश्य ही अन्तर है। एक है विश्व-चैतन्य जिसकी बहुतोंको अनुभूति होती है, जिसकी व्याप्ति और क्रिया व्यष्टिचैतन्यसे सर्वथा भिन्न है; अब इस विश्व-चैतन्यके परे यदि कोई और चैतन्य है जो अनन्त और वस्तुगत्या सनातन है, केवल कालके अंदर व्याप्त नहीं, तो वह चैतन्य इन दो प्रकारके चैतन्योंसे अवश्य ही भिन्न होगा। और यदि भगवान् इन तीनोंमें हैं या अपने-आपको प्रकट करते हैं तो क्या यह विचारमें नहीं आता कि इन तीनोंमें वे अपने स्वरूप और अपनी कार्यपद्धतिको इतना विभिन्न रखते होंगे कि यदि हम सम्पूर्ण अनुभूत सत्यको यथातथ्य-रूपसे देखना चाहते हों, सबको एकमें ही मिलाकर कुछ-को-

कुछ कल्पित करना न चाहते हों, अथवा किसी अनिर्देश्यकी अविचल अनुभूतिमें ही आबद्ध न रहना चाहते हों, तो हमें यह मानना ही पड़ेगा कि भगवान्‌के तीन स्वरूप हैं ?

भगवत्स्वरूपके ये जो त्रिविध अनुभव सम्भावित हैं इनके प्रति जिसकी जैसी भावना या धारणा होती है तदनुसार उसके योगसाधनमें बड़ा बलाबल हुआ करता है। यदि हम ऐसे भगवान्‌की उपलब्धि करें जो व्यष्टिगत अहं आत्मा नहीं है फिर भी अन्तःस्थित होकर हमारी सम्पूर्ण व्यष्टि-सत्ताको चला रहा है और जिसे हम आवरणको हटाकर बाहर ला सकते हैं, अथवा यदि हम उन भगवान्‌की भावनाको अपने अंग-प्रत्यंगमें प्रतिष्ठित कर लें तो, यह सब भी है भगवान्‌की उपलब्धि ही, पर परिसीमित है। यदि हमें, मान लीजिये कि समष्टि जगत्‌के जगदात्माका अनुभव हुआ और उसमें हमने अहमात्माको मिला दिया तो यह है तो बहुत बड़ा व्यापक साक्षात्कार, पर इससे हम विश्वशक्तिके ही एक स्रोत बन जाते हैं और हमारे लिये फिर व्यष्टिगत अहमात्मारूपसे या व्यष्टिगत चैतन्यकी पूर्ण भागवत परिणतिके रूपसे कुछ नहीं रह जाता। यदि हम केवल परम पुरुष (पुरुषोत्तम) की ही खोजमें छूट पड़ें तो हम अपने-आपको और जगत्‌को भी एकमेवाद्वितीय जो परम है उसीकी प्राप्तिमें खो देते हैं। परन्तु यदि हमारा लक्ष्य इनमेंसे कोई एक ही न हो बल्कि भगवान्‌को पाना और भगवान्‌को जगत्‌में प्रकट करना और इसके लिये

विज्ञान-सत्यकी-सी किसी ऐसी शक्तिको, जो अबतक यहाँ व्यक्त न हुई हो, यहाँ अवतारित कराना हमारा लक्ष्य हो तो इन तीनोंका सामञ्जस्य होना आवश्यक ही है। हमें उस शक्तिको जब ले आना है तब कहाँसे ले आवेंगे, यह प्रश्न है, क्योंकि अभीतक वह विश्वके व्यवस्थानमें व्यक्त नहीं है; अर्थात् अव्यक्त परमसे ही उसे लाना होगा और इसलिये अव्यक्त परमतक पहुँचना और उसे प्राप्त करना होगा। हमें उसे विश्वके व्यवस्थानमें ले आना है और यदि यह बात है तो, हमें विश्वात्मा विश्वेश भगवान्‌को प्राप्त करना होगा और विश्वात्मा तथा विश्वशक्तियोंसे युक्त-चैतन्य होना होगा। परन्तु इसे हमें इस जगत्‌में रूपान्वित करना है—अन्यथा यह एक प्रभावमात्र रह जायगा, कोई ऐसा पदार्थ नहीं होगा जो इस भौतिक जगत्‌में संस्थापित हुआ हो; और यह बात व्यष्टिमें स्थित भगवत्स्वरूपके द्वारा ही हो सकती है।

आध्यात्मिक अनुभूतिकी क्रियाशक्तिके ये तत्त्व हैं और इन्हें हमें स्वीकार करना होगा यदि हमें भागवत कर्म करना है।

१२ जून १९३२

कुछ आध्यात्मिक विकल्प

तुम्हारे पत्रमें जो प्रश्न उपस्थित किया गया है वह शब्दोंसे बेतरह कसा हुआ-सा प्रतीत होता है और उसमें इस बातका पूरा ध्यान नहीं रखा गया है कि विश्वमें होनेवाली घटनाएँ और इसके गुणकर्म ऐसे हैं जो चाहे जिधर मुड़ सकते हैं। तुम्हारा प्रश्न, इस कारण, कुछ वैसा ही लगता है जैसा कोई सायंसके बिलकुल हालकी परिकल्पनाओंके बलपर यह पूछे कि यदि यह सम्पूर्ण जगत् और इसमें जो कुछ है वह सब प्रोटनों और इलेक्ट्रनोंसे ही बना हुआ है और ये सब प्रोटन और इलेक्ट्रन परस्पर एक-से ही हैं (भेद है तो केवल उनके विभिन्न पुञ्जोंके अन्तर्गत उनकी संख्यामें, और ऐसे पुञ्ज-भेदसे उनके ऊपर इतना बड़ा या कोई भी गुणभेद होनेका क्या कारण है ?) तो उनके कार्यके परिणाममें तारतम्य और जाति और शक्ति तथा सभी प्रकारका इतना बड़ा वैषम्य कैसे हो जाता है ? पर हमलोग ऐसा क्यों मान लें

कि हृत्पुरुषरूपमें जो बीज या स्फुलिंग हैं ये एक ही समय, एक-सी ही अवस्थामें, एक-सी ही शक्ति और स्वभावसे युक्त होकर एक साथ ही अपने मूल स्थानसे किसी दौड़की होड़ लगाकर निकल पड़े हों। माना कि श्रीभगवान् ही सबके मूल हैं और परमात्मा सबमें सर्वत्र समवस्थित हैं; परन्तु यह मान बैठनेका क्या कारण है कि व्यक्त होनेकी इस लीलामें भगवान् जो अनन्त हैं, अनन्त प्रकारसे अपने-आपको नहीं प्रकट कर रहे हैं; यह प्राकट्य विभिन्न प्रकारका न होकर असंख्य रूपोंमें एक-सा ही क्यों हो ? इनमेंसे कितने ही बीज अन्य बीजोंके पहले ही छूट पड़े होंगे और उनके पीछे उनका दीर्घकालीन विकास होगा, और इनमेंसे कितने नवजात और कच्चे और अधपके ही होंगे, क्या ऐसा नहीं हो सकता ? अब, जो बीज एक साथ चल पड़े उनमें भी ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि कुछकी चाल बहुत तेज हो और कुछ अलसाते हुए चलते हों, बड़ी कठिनाईसे आगे बढ़ते हों या चक्कर काटते रहते हों ? और फिर विकासकी एक खास चाल है, विकासकी एक विशेष अवस्थामें ही पशु-प्रान्त अतीत होकर मानवक्रम आरम्भ होता है। वह मानव-क्रम क्या है जो एक बहुत बड़ी क्रान्ति या उलट-पलटका द्योतक है ? पशु-प्रान्तकी सीमातक प्राण और शरीर ही परिणत होते रहते हैं—मानव-सृष्टिके उपक्रमके लिये क्या यह आवश्यक नहीं है कि मनोमय

पुरुषका इसलिये अवतरण हो कि वह आकर प्राण और शरीरका विकास अपने हाथमें ले ? और क्या यह भी नहीं हो सकता कि जो मनोमय पुरुष इस प्रकार उतर आते हैं वे सब एक ही शक्ति और क़दके न हों, और फिर, वे एक-सी ही प्राणचेतना और शरीरचेतनाको अपने कर्मका उपादान न बनावें ? फिर ऐसी भी एक मान्यता है कि इस वर्त्तमान नामरूपात्मक जगत्के ऊपर एक देवराज्य है, इस देवराज्यके देवता इस जगत्में उतर आते हैं जिसका परिणाम स्पष्ट ही इस प्रकारका महान् तारतम्य और वैषम्यादि उत्पन्न करनेके रूपमें ही होता होगा। ये देवता मानव-प्रकृतिमें जन्मके द्वारा व्यक्त होकर जगत्के इस खेलमें उतर आते और इसमें अदल-बदलतक करते हैं। इस तरहकी कितनी ही बातें हैं और इसलिये यह प्रश्न गणितकी-सी किसी रीतिसे कसकर नहीं उपस्थित किया जा सकता।

ऐसे प्रश्नोंमें, विशेषकर जहाँ बुद्धिको चकरानेवाले परस्परविरोधी रूप सामने हैं, सबसे बड़ी कठिनाई तो प्रश्नको ठीक तरहसे उपस्थित न करनेके कारण ही उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, पुनर्जन्म और कर्मके सम्बन्धमें जैसी लोक-धारणा है उसको देखो—इस धारणाकी बुनियाद महज मन-बुद्धिकी यह मान्यता है कि प्रकृतिके सब कर्म नैतिक ही होते हैं और सबके साथ समानरूपसे कांटेतौल न्याय-नीतिका बर्ताव हो, इसी हिसाबसे हुआ करते हैं—पाई-

पाईका हिसाब, किसको क्या पुरस्कार और क्या दण्ड दिया जाय अथवा किस कर्मका क्या फल हो इसका पूरा-पूरा गणित रहता है और यह सब है 'जसको तस' के सम्बन्धमें मनुष्यकी जो कल्पना है उसीकी बुनियादपर ! परन्तु प्रकृति न्यायनीतिबद्ध नहीं है, वह अपना काम बनानेके लिये नैतिक, नीतिविरुद्ध और अनैतिक सभी गुणों और गुणकर्मोंसे बिना किसी तारतम्यके अधाधुन्ध काम किया करती है। प्रकृति बाह्यतः अपना कार्य करा लेने अथवा जीवनके खेलकी विलक्षण विविधताके उपयुक्त परिस्थिति निर्माण करनेके सिवाय और किसी बातकी परवा करती नहीं दीखती। प्रकृतिका जो अन्तःस्वरूप है अर्थात् चिद्रूपा आत्मशक्तिका, उस पहलूसे प्रकृतिका कार्य तदधीन जो जीव हैं उनका क्रमशः अनुभूतिके द्वारा आध्यात्मिक विकास कराना है— और इस विकाससाधनमें जीवोंकी अपनी-अपनी इच्छाका भी सम्बन्ध रहता ही है। ये सब भले आदमी बड़े सोच और चक्करमें पड़ जाते हैं कि भला यह क्या बात है जो हमारे-जैसे नेक आदमियोंके यहाँ नेकी करते हुए भी बदी होती है--इस प्रकारकी बदकिस्मती और आफतें घेरे रहती हैं जिनका कोई कारण समझमें नहीं आता। पर ये आफतें क्या, सचमुच ही, उनके ऊपर किसी ऐसी शक्तिसे आती हैं जो उनके बाहरकी शक्ति हो या यह कर्मका कोई ऐसा चक्कर है जो यन्त्रवत् घूमा करता है ? क्या यह सम्भव नहीं कि स्वयं जीव

ही—बाह्य मन नहीं, स्वयं अन्तःस्थित आत्मा ही—इन सब चीजों-को, अपना विकास करानेके क्रमका एक आवश्यक अंग जान-कर स्वीकार और ग्रहण करता हो जिसमें कि वह यथावश्यक अनुभवकी प्राप्तिके द्वारा तेजीके साथ आगे बढ़े, इन आफतोंमेंसे चीरकर अपना रास्ता निकाले, ऐसा करनेमें चाहे इससे बाह्य जीवन और बाह्य शरीरका बहुत बड़ा ह्रास भी होता हो तो कोई परवा नहीं? क्या यह बात तो नहीं है कि ये सब कठिनाइयाँ, विघ्न-बाधाएँ और आपदाएँ विकासोन्मुख जीव-के लिये—अन्तःस्थित आत्माके लिये वे साधन ही हों जिनसे जीवका विकास होता, उसकी शक्ति बढ़ती, अनुभव विस्तृत होता, आध्यात्मिक विजयका अभ्यास होता है? हो सकता है कि इन सब बातोंकी यही विधि बैठायी गयी हो और यह केवल पुण्यका फल और पापका दण्ड दिलानेवाले, पाई-पाई पुण्य और पापका हिसाब लगानेवाले विधानका ही सवाल न हो।

तुम्हारे मित्रने, इस पत्रमें, पशुहत्याके सम्बन्धमें जो प्रश्न उपस्थित किया है, उसके सम्बन्धमें भी यही बात समझनी चाहिये। प्रश्नकी बुनियाद वही अपरिवर्त्तनीय नैतिक पाप-पुण्य-विचार है जिसे लोग सभी बातोंपर घटाया करते हैं—प्रस्तुत प्रश्न भी यही है कि पशुहत्या करना क्या किसी भी हालतमें ठीक हो सकता है, क्या यह न्याय है कि तुम्हारे देखते कोई पशु यन्त्रणाएँ सहता रहे और वह भी उस

अवस्थामें जब तुम उसे जानसे मारकर उन यन्त्रणाओंसे मुक्त कर सकते हो ? इस तरहसे उपस्थित किये हुए प्रश्नका कोई निस्सन्दिग्ध उत्तर नहीं हो सकता, क्योंकि उत्तर गृहीत तत्त्वोंके आधारपर होगा, पर यहाँ विचारमें प्रवृत्त बुद्धिके सामने कोई ऐसे स्वीकृत तत्त्व नहीं है । वास्तवमें, और भी बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनसे लोग, ऐसे कठिन प्रसंगमें, इस तुरत-फुरत काम बनानेवाले, दयाके रास्तेसे जी छुड़ानेकी ओर ही झुक पड़ते हैं—प्राणोंकी दुर्बलतासे ऐसी यन्त्रणाओंको देख या सुन न सकना, हकनाहककी हलाकानी, परेशानी और असुविधा—ये सब ऐसी ही बातें हैं जिनसे यह कल्पना बलवती हो उठती है कि इस असह्य दुःखको भोगनेके बजाय पशु स्वयं ही उससे छूटनेके लिये मरना ही चाहता होगा । पर पशु वास्तवमें क्या चाहता है—क्या यह नहीं हो सकता कि इस दारुण दुःखके रहते भी पशु जीना ही चाहता हो, तनकी ममतासे बिछुड़ना न चाहता हो ? अथवा क्या यह नहीं हो सकता कि जीवने स्वयं ही इन दुःखादिकोंको इसलिये वरण किया हो कि विकासका क्रम शीघ्र पूरा होकर जीवनकी उच्चतर अवस्था प्राप्त हो ? और यदि ऐसा हो तो उसके जीवनका अन्त करनेवाली यह दया उसके विकास-साधक कर्ममें बाधक भी तो हो सकती है । असलमें ठीक निर्णय प्रत्येक अवस्थामें भिन्न-भिन्न हो सकता है और ऐसा निर्णय देना उस ज्ञानपर निर्भर करता है जो मनुष्यकी बुद्धिको प्राप्त नहीं है—और यह भी जोर

देकर कहा जा सकता है कि जबतक मनुष्यको वह ज्ञान प्राप्त नहीं है तबतक उसे किसीका प्राण लेनेका कोई अधिकार नहीं है। इसी सत्यकी अस्पष्ट-सी प्रतीतिके कारण ही धर्म और सदाचारमें अहिंसाधर्म विकसित हुआ—और फिर वह अहिंसाधर्म भी एक मानसिक नियम ही होकर रहा जिसका व्यवहारमें प्रयोग होना असम्भव हो गया है। और सम्भवतः इन सब बातोंका यही तात्पर्य निकलता है कि अभी जैसी स्थिति है उसमें हमलोगोंको प्रत्येक प्रसंगमें तत्तत् प्रसंगके अनुसार, अपनी दृष्टिमें जो बात सर्वोत्तम जँचे वही करना चाहिये; पर यह भी समझ लेना चाहिये कि इन प्रश्नोंका ठीक निर्णय तभी हो सकता है जब हम उस महत्तर प्रकाशकी ओर, उस बृहत्तर चैतन्यकी ओर आगे बढ़ें जिसमें मानव-बुद्धिके द्वारा उपस्थित होनेवाले ये प्रश्न इस रूपमें उठेंगे ही नहीं, क्योंकि तब हमें वह दृष्टि प्राप्त होगी जिस दृष्टिमें संसारका कुछ और ही रूप देख पड़ेगा और निर्णय-निर्देश करनेवाली शक्ति भी कोई ऐसी शक्ति होगी जो हम लोगोंको अभीकी इस अवस्थामें प्राप्त नहीं है। बौद्धिक या नैतिक नियम 'अभावे शालिचूर्णं वा' जैसा है और मनुष्योंको बड़ी अनिश्चितताके साथ, लुढकते-पुढकते इसका उपयोग तबतक करना ही पड़ता है जबतक आत्मज्योतिके प्रकाशमें सब वस्तुओंको पूर्णरूपमें देखनेकी सामर्थ्य उन्हें नहीं प्राप्त होती।

२९ जून १९३२

पुनर्जन्म और व्यक्तित्व

पुनर्जन्मके सम्बन्धमें जो सामान्य भ्रान्त लोकधारणा है, उसे तुम आश्रय न दो। लोगोंकी धारणा यह है कि अहोबल पण्डितने ही जगेसर मिसिरके रूपमें पुनः जन्म लिया है, बिल्कुल वही आदमी हैं, वही व्यक्तित्व है, वही आचरण है, वैसी ही विद्या-बुद्धि और वैसा ही पराक्रम है, अन्तर

केवल इतना ही है कि पूर्वजन्ममें वे सिरपर एक बड़ा भारी पग्गड़ बाँधते थे और अब दुपल्ली टोपी देते हैं, पहले संस्कृतमें भाषण करते थे और अब ठेठ हिन्दी बोलते हैं। परन्तु यह बात नहीं है। उसी व्यक्तित्व या आचरण-का, कल्पारम्भसे कल्पान्ततक बार-बार पुनरावर्त्तन हो, भला इसका प्रयोजन ही क्या हो सकता है ? जीव जन्म लेता है अनुभवके लिये, वृद्धिके लिये, विकासके लिये जिसमें कि अन्तमें वह इस योग्य हो जाय कि पृथिवीतकमें भगवत्तत्त्वको ले आ सके। यह कारणपुरुष है जो जन्म लेता है, कोई बाहरी व्यक्तित्व नहीं—व्यक्तित्व तो केवल एक साँचा है जिसे वह अपने उसी एक जीवनके अनुभवोंको आकृति देनेके लिये बनाया करता है। दूसरे जन्ममें वह अपने लिये दूसरा व्यक्तित्व, दूसरा पात्रत्व, दूसरे प्रकारका जीवन और कर्मक्षेत्र निर्माण करेगा। मान लीजिये कि वीरकवि वर्जिलका पुनर्जन्म हुआ, तो यह सम्भव है कि दो-एक जन्म वे कविता ही लिखें पर अब वे कोई महाकाव्य तो निश्चय ही नहीं लिखेंगे बल्कि छोटी-छोटी सुन्दर भावमय ललित गीतिकाएँ लिख सकते हैं जो वे लिखना चाहते थे पर उस जमानेमें रोममें नहीं लिख सके। फिर किसी दूसरे जन्ममें यह हो सकता है कि वे कवि ही न हों। बल्कि दार्शनिक और योगी होकर परम सत्यकी प्राप्ति और अभिव्यक्तिमें लगें, क्योंकि यह भी तो उनके उस जीवनमें उनकी चिद्‌भावनाकी एक धारा थी जो रुकी ही रह गयी। उसके पूर्व सम्भव है

कि वे कोई योद्धा या शासक रहे हों और एइनीज या आगस्टसके-से पराक्रम उन्होंने किये हों और बादके जन्ममें उस रूपसे उनके गीत गाये हों। तात्पर्य इस तरहसे यह जीव अपने विभिन्न अंगोंका विकाससाधन किया करता है, नया चरित्र और नया व्यक्तित्व निर्माण करता है, वृद्धिको प्राप्त होता, विकसित होता इन सब जगत्के अनुभवोंसे होकर आगे बढ़ता है।

यह विकासधर्मी जीव ज्यों-यों अधिकाधिक विकासको प्राप्त होता है और अधिकाधिक समृद्ध और विविध बनता जाता है त्यों-त्यों वह अपने इन विविध व्यक्तित्वोंको मानो सञ्चित करता जाता है। ये व्यक्तित्व कभी तो कर्ममें प्रवृत्त वृत्तियोंके पीछे छिपे रहते हैं और अपना कोई रंग, कोई वैशिष्ट्य, कोई सामर्थ्य कभी-कभी जहाँ-तहाँ झलका देते हैं—अथवा कहीं ये सामने भी आ जाते हैं और तब बहुगुणव्यक्तित्व प्रकट होता है जिसमें बहुमुखी चरित्र अथवा बहुमुखी और बहुमुखी ही क्यों, कभी-कभी तो सर्वतोमुखी सामर्थ्य-सा देख पड़ता है। पर इस प्रकारसे जब कोई पूर्वव्यक्तित्व या पूर्वसामर्थ्य पूर्णतया बाहर निकल आता है तब उसका हेतु पूर्वमें किये हुए कार्यका ही पुनरावर्तन नहीं होता बल्कि उसी सामर्थ्यको नये आकार-प्रकारमें ढालना होता है जिसमें जीवके नव

विकसित जीवनके साथ उसका सामञ्जस्य बन आवे, पूर्व-कृतिकी केवल पुनरावृत्ति ही नहीं। इसलिये ऐसी अपेक्षा न करनी चाहिये कि जो पहले योद्धा और कवि थे वे फिरसे वैसे ही योद्धा और कवि होंगे। इन बाह्य लक्षणोंमेंसे कोई लक्षण फिरसे प्रकट हो सकते हैं पर बहुत कुछ बदलकर और नये जुटावमें नये सिरेसे ढलकर। उनका रुख अब दूसरा होगा, जिस दिशामें उनका प्रवाह बहेगा वह दिशा पहलेसे भिन्न होगी और उनके द्वारा वह कार्य होगा जो पहले नहीं हुआ था।

एक और बात है। पुनर्जन्ममें बाह्य व्यक्तित्व, अथवा चरित्र सर्वोपरि मुख्य बात नहीं है—मुख्यता है हृत्पुरुषकी, जो प्रकृतिके विकासके पीछे रहता और उसके साथ विकसित होता है। यह हृत्पुरुष जब इस शरीरको छोड़कर जाता है, और फिर रास्तेमें मनोमय और प्राणमय कोषको भी त्याग-कर अपने विश्राम-धाममें पहुँचता है तब यहाँतकके सब अनुभवोंका सारतत्त्व अपने संग लिये रहता है—बाह्य भौतिक घटनाओंको नहीं, प्राणके व्यापारोंको नहीं, मन-बुद्धि-की कल्पनाओंको नहीं, बाह्य व्यक्तित्वके रूपसे प्रकट होने-वाले सामर्थ्य या चरित्रको नहीं, बल्कि उस सारतत्त्वको लिये रहता है जिसे वह इन सबसे बटोर लेता है। इस सार-तत्त्वको हम वह दिव्य तत्त्व कह सकते हैं जिसके लिये इन सबकी योजना थी। यही सारतत्त्व उसका चिरस्थायी अंग

होकर रहता है और यही वह चीज है जो श्रीभगवान्की ओर आगे बढ़नेमें उसकी सहायता करती है। यही कारण है कि प्रायः पूर्वजन्मोंकी बाह्य घटनाओं और अवस्थाओं-की स्मृति नहीं बनी रहती—क्योंकि इस प्रकारकी स्मृति बनी रहनेके लिये यह आवश्यक है कि मन, प्राण और सूक्ष्मान्नतकके अप्रतिहत सातत्यकी ओर सुदृढ़ विकास हो; क्योंकि यद्यपि यह सब कुछ एक प्रकारकी बीजरूपा स्मृतिमें बना ही रहता है, पर यह सामान्यतः बाहर प्रकट नहीं होता। योद्धाके दिव्य भव्य तेजमें जो सार दिव्य तत्त्व था, जो उसकी राजभक्तिमें, उसकी उदाराशयतामें, उसके महान् साहसमें व्यक्त हुआ; कविकी सुसमञ्जस मनोभावनामें और उदार प्राणतामें जो दिव्य सारतत्त्व था और जो उस रूपमें व्यक्त हुआ, वह दिव्य सारतत्त्व है और वह नये रूपमें प्रकट हो सकता है, अथवा यदि जीवन भगवान्में लग जाय तो यह सारतत्त्व भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रीत्यर्थ कर्मका साधनबल हो जा सकता है।

१७ जून १९३३

इस जगत्की पहेली

इस बातको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता, न कोई आध्यात्मिक अनुभव इसे अमान्य करता है कि यह जगत् सुखस्वरूप और सन्तोषप्रद नहीं है; इसपर अपूर्णता, दुःख और बुराईकी बड़ी गहरी छाप लगी हुई है। यही प्रतीति ही वास्तवमें, आध्यात्मिक प्रवृत्तिका, एक प्रकारसे, मूल कारण हुआ करती है। ऐसे लोग तो बहुत थोड़े ही होते हैं जिन्हें इस समस्त दृश्यमान जगत्पर पड़ी हुई मृत्यु-च्छायाको देखनेसे होनेवाले भय, विह्वलता और पराभूतता, व्यथा और विरक्तिसे विवश हुए बिना ही, इससे किसी ऊँचे सत्यकी अनुभूति अपने-आप ही होती हो। परन्तु फिर भी यह प्रश्न तो है ही कि इस नामरूपात्मक जगत्का क्या यही वास्तविक स्वरूप है जैसा कि कहा जाता है अथवा

कम-से-कम जबतक यह भौतिक जगत् है तबतक उसका क्या यही स्वरूप रहेगा अर्थात् क्या यही समझना होगा कि नामरूपसे अभिव्यक्त होने या सर्जन करनेका संकल्प ही सब पापोंका मूल है और इसलिये जन्मसे या नामरूपाभिव्यक्तिसे किनारा कसना ही मुक्तिका एकमात्र उपाय है ? जिन लोगोंको ऐसा या ऐसा ही कुछ प्रतीत होता है—और इन्हीं-की संख्या अधिक रही है—उनके लिये इस जंजालसे बाहर निकलनेके बने-बनाये साधन स्पष्ट निर्दिष्ट और प्रसिद्ध हैं—बिलकुल सीधा कटा-छँटा रास्ता है जो सीधे मोक्षमें पहुँचा देता है । पर यह भी तो सम्भव है कि यह जगत् ऐसा न हो, हमारे अज्ञान अथवा अधूरे ज्ञानके कारण हमें ऐसा प्रतीत होता हो—जगत्‌की यह अपूर्णता, यह बुराई और यह सारा दुःख एक प्रतिरुद्ध अवस्था या शोक-संकुल मध्यवर्त्ती मार्गमात्र हो, नामरूपात्मक जगत्‌की यह असली हालत नहीं हो, प्रकृतिमें जीव-जन्मका यह वास्तविक रूप नहीं हो । और यदि यही बात हो तो सबसे बड़ी बुद्धिमानी इस जगत्‌से भागनेमें नहीं, बल्कि यहीं विजय प्राप्त कर लेनेकी प्रवृत्तिमें है, इस जगत्‌के पीछे जो संकल्पशक्ति है उसका स्वेच्छापूर्वक साथ करनेमें है, सिद्धिके उस आध्यात्मिक द्वारका उद्‌घाटन करनेमें है जिसके उद्‌घाटित होनेसे भागवत ज्योति, ज्ञानशक्ति और आनन्दके पूर्णतया नीचे उतर आनेका खुला हुआ रास्ता बन जायगा ।

सभी प्रकारके आध्यात्मिक अनुभवसे यह बात सिद्ध है कि जिस नामरूपात्मक जगत्में हम लोग रहते हैं और जिस बद्ध चैतन्यकी तंग चौहद्दीके अंदर हम लोग भटकते और लुढकते-पुढकते हुए चलते हैं उस जगत्की क्षणभंगुरता और उस सीमित-चैतन्यके ऊपर एक कूटस्थ अचल ध्रुव सत्य स्थित है जिसके ये लक्षण हैं कि वह अनन्त है, स्वयम्भू है, नित्य मुक्त है, निरपेक्ष ज्योतिः स्वरूप और परमानन्दस्वरूप है। तो अब यह जो कुछ परे है और यह जो कुछ यहाँ है, इनके बीचकी खाड़ीपर क्या कोई सेतु नहीं बाँधा जा सकता अथवा क्या ये दोनों सदासे सदाके लिये परस्पर विरुद्ध ही हैं और कालकर्मको पीछे छोड़कर इस खाड़ीको एक छलाँगमें पार करके ही कोई उस सनातन ध्रुव सत्यको पा सकता है? अनुभवकी एक लीक यहीं जाकर समाप्त हुई-सी प्रतीत होती है, बौद्धसम्प्रदाय इसी लीकपर चलकर जहाँ पहुँच सकता है ठीक वहीं पहुँचा। अद्वैत वेदान्तका एक पक्ष भी इस लीकपर चला पर उसने इसी लीकको नहीं पीटा। यह पक्ष जगत्का भगवान्के साथ एक प्रकारका सम्बन्ध तो मानता है, पर फिर भी आखिरकार, भगवान् और जगत्को अनुक्रमसे सत्य और मिथ्या कहकर एक-दूसरेके विरुद्ध ही रखता है। परन्तु एक और ऐसा असन्दिग्ध अनुभव भी है कि भगवान् यहाँके प्रत्येक पदार्थमें हैं, प्रत्येक पदार्थके ऊपर और पीछे भी हैं और जब हम इस

जगत्‌के बाह्यरूपसे निवृत्त होकर उसके वास्तविक स्वरूपको प्राप्त होते हैं तब यह भी अनुभूत होता है कि सब कुछ उन्हींमें है, सब कुछ वे ही हैं। यह एक बड़े मार्केकी और बड़ी उद्‌बोधक बात है कि ब्रह्मवित् पुरुष इस जगत्‌में विचरता और सब कर्म करता हुआ भी इसके सब आघातोंको झेलता हुआ भी प्रभुकी किसी पूर्ण शान्ति, प्रकाश और परमानन्दमें निवास कर सकता है। अर्थात् यह एक ऐसी बात है जो उस एक-दूसरेको बिलकुल अलग करनेवाले परस्परके विरोधसे भिन्न है—इसमें कोई रहस्य है, कोई ऐसी बात है जिसमें यह गुंजायश मालूम होती है कि इस समस्याको हल करनेके लिये इतना हताश होकर ऐसा उग्र उपाय सोचनेकी कोई आवश्यकता न रहेगी—इससे, एक अधिक सरल और कम विरोधी रास्ता निकल आवेगा। यह आध्यात्मिक सम्भावना किसी चीज़का निर्देश करती है जो इसके परे है और जो हमारे इस पतित जीवनके अन्धकारमें एक दिव्य आशाकी किरणका सञ्चार कर देती है।

और अब सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि क्या यह जगत् सदासे किसी एक ही अपरिवर्त्तनीय दृश्यका पुनरावर्त्तन है अथवा इसमें विकसित होनेकी कोई आन्तरिक प्रेरणा, कोई विकासोन्मुख तत्त्व, कहीं कोई ऐसा ऊर्ध्व-गामी सोपान है जो अधोमूल, बाह्यतः अचेतनरूपसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकसित चेतनरूपको प्राप्त होता है,

प्रत्येक विकाससे और अधिक ऊपरकी ओर जो चला गया है और अन्तमें किसी ऐसी ऊँची-से-ऊँची उँचाईमें जा मिला है कि जिसका हम लोगोंको सामान्यतः अभी कोई पता नहीं है ? यदि ऐसा हो तो उस उत्तरोत्तर उत्थानका क्या आशय है, उसका क्या मूलतत्त्व है और उससे न्यायतः क्या सिद्धान्त निकलता है ? जगत्‌में जो कुछ देखनेमें आता है उससे यही बात सूचित होती है कि इस प्रकारका उत्थानक्रम वास्तवमें है—केवल भौतिक विकास-क्रम नहीं बल्कि आध्यात्मिक विकास-क्रम भी । इस आध्यात्मिक विकास-क्रमके विषयमें भी आध्यात्मिक अनुभूतिकी एक ऐसी परम्परा प्राप्त है जिससे यह पता लगता है कि यह जो अचेतन सत्ता है जिससे सारा उपक्रम होता है, यह बाह्यतः ही अचेतन है । कारण, इस अचेतनमें चैतन्य अपनी अनन्त कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं शक्तिके साथ निहित है, कोई परिसीमित चेतना नहीं बल्कि विश्व-चैतन्य और अनन्त चैतन्य, योगमायासमावृत, स्वेन मायया स्वात्मनि आबद्ध साक्षात् भगवान् जड़में आबद्ध हैं, पर आबद्ध हैं अपनी अन्तस्तलमें निहित प्रत्येक शक्तिके साथ । इस आपात् अचेतनसे यह प्रत्येक शक्ति उसकी बारी आनेपर प्रकट होती है, पहले संघटित जड़ प्रकट होता है जिसमें अन्तःस्थित आत्मा छिपा हुआ है, फिर वनस्पतियोंमें प्राण प्रकट होता है और पशुओंमें विकासोन्मुख मन और

तब मन स्वयं विकसित होकर मनुष्यमें सुव्यवस्थित और सुसंघटित होता है। यह विकासक्रम, आध्यात्मिक विकास —क्या यह विकासक्रम यहाँ आकर रुक जाता है, इस अधूरी मनोमय सत्तामें आकर जिसे मनुष्य कहते हैं? इसका रहस्य क्या बस इतना ही है कि मनुष्य बार-बार जन्म लेकर जिस तरहसे हो यह जाने कि जन्म लेना व्यर्थ है और अपना आप ही त्याग कर दे और कूद पड़े किसी मूल अज अक्षर कैवल्यमें या किसी शून्यमें? कम-से-कम इस बातकी संभावना तो है, एक ऐसा स्थल तो है जहाँ इस बातका निश्चय हो जाता है कि हम जिसे मन या मन-बुद्धि कहते हैं उससे महतो महीयान् कोई और चैतन्य है और इस विकास सोपानसे यदि हम और ऊपर चढ़ चलें तो हमें वह स्थल मिलेगा जहाँ इस भौतिक अचेतना, प्राणमय और मनोमय अविद्याकी पकड़ छूट जाती है; एक चित्तत्त्व व्यक्त होनेमें समर्थ होता है और वह व्यक्त होकर इस आबद्ध भगवत्तत्त्वको अंशतया और अपूर्णतया नहीं बल्कि आमूल और पूर्णतया मुक्त कर देता है। इस दृष्टिमें विकासकी प्रत्येक उन्नत अवस्था चैतन्यकी परा और परतरा शक्तिके अवतरणसे ही साधित होती हुई प्रतीत होती है; ऊर्ध्वसे उतरनेवाली ये शक्तियाँ नीचे उतरकर जागतिक जीवनको ऊपर उठाती हैं, एक नवीन स्तर निर्माण करती हैं; पर ऊर्ध्वतम शक्तियोंका अवतरण

अभीतक नहीं हुआ है, उनका अवतरण जब होगा तब उस अवतरणसे जागतिक जीवनकी पहेली समझमें आयगी और तब केवल अन्तरात्मा हीके लिये नहीं बल्कि स्वयं प्रकृतिके लिये भी मोक्षद्वार खुल जायगा। यह वह सत्य है जिसके स्वरूपकी सहसा दमकनेवाली द्युतियोंको अधिकाधिक पूर्ण मात्रामें उस ऋषिपरम्पराने देखा है जिसे तन्त्रोंमें वीर-साधक या दिव्य-साधक कहा गया है और यह सम्भव है कि उस स्वरूपकी पूर्ण अभिव्यक्ति और अनुभूति अब होनेवाली है। इसलिये संसारपर अबतक संघर्ष और सन्ताप और अन्धकारका चाहे जितना दुःसह भार रहा हो, फिर भी यदि इसका यह महत्फल प्राप्त होनेको है तो अबतक जो कुछ हुआ उसे, उस उज्ज्वल भविष्यको प्राप्त करनेका समुत्साह रखनेवाले धीर वीर पुरुष, कोई बहुत बड़ी क़ीमत नहीं समझेंगे। कम-से-कम, अन्धकारका जो परदा पड़ा था वह इससे उठता है, एक भागवत प्रकाश जगत्‌पर छाया हुआ प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, जो किसी दूरस्थित अप्राप्य ज्योतिकी जगमगाहटमात्र ही नहीं है।

निस्सन्देह यह प्रश्न फिर भी रहता ही है कि यह जो दुःसह दुःखभार अबतक वहन किया गया और अभीतक वहन किया जा रहा है इसकी—ऐसे इस अबुद्ध असंस्कृत उपक्रमकी, इस दीर्घ और संकट-संकुल मार्गक्रमणकी—आवश्यकता ही क्या थी, इतना बड़ा और कष्टमय मूल्य

माँगनेका क्या काम था, इन सारे अशुभ और दुःखका क्या प्रयोजन था। इस अज्ञानमें कैसे गिरे और क्यों गिरे, ये दो सवाल हैं। इनमेंसे 'कैसे' के जवाबमें तो सभी आध्यात्मिक अनुभूतियोंका सारतः एक ही मत है। अर्थात् एक ही अखण्ड सत्ता जो शाश्वत सत्य है उससे विभक्त होनेसे, पृथक् होनेसे, इस पार्थक्य तत्त्वके कारण, ऐसा हुआ; यह ऐसा यों हुआ कि अहंकार अपने-आपको ही लेकर संसारमें चला, भगवान्‌के साथ अपना एकत्व और सबके साथ अपनी एकताको भुलाकर अपनी ही माया-ममता और प्रभुता स्थापित करने लगा; सब शक्तियोंका सामञ्जस्य करनेवाली एक जो परमाशक्ति, परमज्ञान, परा ज्योति है उसके बजाय सत्यकी प्रत्येक भावना, प्रत्येक शक्ति, प्रत्येक स्वरूप, इन अनन्त सम्भावनाओंकी महाराशिमें यथाशक्य, अपनी-अपनी पृथक् इच्छाके अनुसार, और फिर अन्ततोगत्वा एक-दूसरेको दबाकर, एक-दूसरेके साथ लड़-भिड़कर भी, अपने-आपको ही रूपान्वित करे, यही व्यवस्था चली। पार्थक्य, अहंकार, अपूर्ण चेतना और पृथक्कृत अहंभावका अँधेरेमें टटोलना और माथा खपाना, ये बातें हैं जगत्‌के अज्ञान और दुःखका उपादानकारण। जहाँ एक बार ये चेतनाएँ अपने पूर्ण स्वरूप अखण्ड अखिल चैतन्यसे पृथक् हुईं तहाँ फिर इनका अज्ञानमें आकर गिरना अनिवार्य ही ठहरा और इस

अज्ञानका अन्तिम परिणाम हुआ अचेतना जडत्व। एक तमसाच्छन्न विशाल अचेतनसे यह पार्थिव जगत् उत्पन्न हुआ और उसमेंसे जीव उत्पन्न हुआ जो विकासक्रमसे चैतन्यको प्राप्त होनेका प्रयत्न कर रहा है; प्रच्छन्न ज्योति इसे अपनी ओर ऊपर खींच रही है और यह ऊपर चढ़ रहा है, पर फिर भी अभी इसकी आँखें बन्द हैं, अन्धेकी तरह ही यह उस गुप्त भगवत्तत्त्वकी ओर जा रहा है जहाँसे यह निकला था।

परन्तु यह सब ऐसा हुआ ही क्यों? इस प्रश्नको उठाने और इसके उत्तर देनेका जो सामान्य तरीका है अर्थात् मनुष्य स्वभावका अपना तरीका जो सदाचार-विषयक अपनी कल्पनाको ही लिये चलता और उसके अनुकूल न पड़नेवाली हर बातको अब्रह्मण्य कहकर धिक्कारता और 'हा' हा हन्त! पुकारता है, ऐसे तरीकेको तो पहले ही त्याग देना होगा। कारण, यह बात ऐसी नहीं है, जैसा कि कुछ सम्प्रदाय मानते हैं कि इस पतनका कारण कोई स्वेच्छाचारी ईश्वर है जो स्वयं विश्वके परे रहते हैं और इस पतनसे सर्वथा अलग रहते हुए जिसने अपनी मनमानी-घरजानी चलाकर इन प्राणियोंको ऐसे निर्माणकर इनके ऊपर यह अशुभ और दुःख इस तरह जबरदस्ती लाद दिया हो। जिस भगवान्को हम जानते हैं वे अनन्त हैं, वे अनन्त रूपोंसे प्रकट हो रहे हैं,

उनके इस अनन्त प्राकट्यमें ये बातें आ गयी हैं—ये भगवान् ही हैं जो यहाँ हैं, हमारे पीछे हैं, सम्पूर्ण अभिव्यक्त जगत्‌में व्याप्त हैं, अपना सर्वव्यापक एकत्व बनाये हुए इस जगत्‌के आश्रय हैं; भगवान् ही हमारे अंदर रहते हुए स्वयं ही पतनका सारा भार और इसके अन्धकारमय परिणामको धारे हुए हैं। हाँ, वे ऊपर हैं और जैसे ऊपर अपनी पूर्ण ज्योति परमानन्द और पराशान्तिस्वरूपमें हैं वैसे ही यहाँ नीचे भी हैं; उनकी ज्योति, आनन्द और शान्ति यहाँ भी गुप्तरूपसे सबको धारण किये हुए हैं; हमारे अपने अंदर एक आत्मा है, एक केन्द्रीभूत सत्ता है जो इन सब बहिर्भूत व्यक्तित्वोंसे महान् है और जो परम परमेश्वरके समान ही, इन बहिर्भूत व्यक्तित्वोंको प्राप्त दैव या भाग्यसे, अभिभूत नहीं होती। यदि हम अपने अंदरके इस भगवदंशको ढूँढ़कर प्राप्त कर लें, यदि हम अपने-आपको यही आत्मा जानें जो भगवान्‌के ही स्वरूप और भाववाला है, तो यही हमारा मुक्तिद्वार है और संसारकी इन विषमताओंके बीचमें रहते हुए भी हम अपने इस आत्माके अंदर प्रकाश-स्वरूप, आनन्दस्वरूप और मुक्तस्वरूप रह सकते हैं। इतना तो प्राचीन आध्यात्मिक अनुभूतिके प्रमाणसे ही सिद्ध है।

पर फिर भी इस विषमताका हेतु और मूल क्या है—यह पार्थक्य और अहंकार, यह कष्टसाध्य विकासवाला जगत् क्यों उत्पन्न हुआ ? श्रीभगवान्‌के दिव्य मंगलमय,

आनन्दमय और शान्तिमय स्वरूपमें यह अमंगल (अशुभ) और दुःख आकर प्रविष्ट ही क्यों हुआ ? मानव बुद्धिको उसीकी अपनी भूमिकापर यह बात समझाना बड़ा कठिन है, क्योंकि जिस चैतन्यमें इस कर्मप्रवाहका उद्गमस्थान है और जहाँपर यह पारबौद्धिक ज्ञानदृष्टिमें सर्वथा स्वतः प्रमाणसे समुचित है, वह चैतन्य समष्टि-चैतन्य है, कोई व्यष्टिभूत मानवबुद्धि नहीं; उसका देखना महाकाशमें देखना है, उसकी दृष्टि भिन्न है, ज्ञानानुभूति भिन्न है, मानव बुद्धि और प्रतीतिसे भिन्न प्रकारकी चेतना उसमें है। मनुष्यकी मन-बुद्धिको समझानेके लिये यों कहा जा सकता है कि अनन्त भगवान् स्वयं भले ही इन सब उथल-पुथल मचानेवाली विषमताओंसे मुक्त हों पर जब नामरूपात्मक जगत्का सृष्टिक्रम चला तब उसके साथ संकल्प-विकल्पात्मक अनन्तविध संभावनाएँ भी चलीं और इन अनन्त सम्भावनाओंमें, जिन्हें रूपान्वित करना इस नामरूपात्मक जगन्निर्माणका कार्य है, एक सम्भावना यह भी हुई कि स्वस्वरूपकी शक्ति, प्रकाश, शान्ति और आनन्दका निषेध, आपाततः दृढ़ निषेध, निर्माण हो और फिर इसका जो कुछ फल होना हो वह भी हो, इसपर यदि यह पूछा जाय कि ऐसी सम्भावना थी तो रहा करती; उसे स्वीकार करनेका क्या प्रयोजन था; तो इसका मानव

बुद्धिके लिये शक्य ऐसा उत्तर कि जो समष्टि-गत सत्यसे अधिक-से-अधिक निकट हो, यही हो सकता है कि एकरूप भगवान्‌का अनेकरूप भगवान्‌के साथ जैसा सम्बन्ध है उसमें, या यों कहिये एकरूप भगवान् जब अनेकरूप हो चले तो इस संक्रमणमें एक स्थल ऐसा प्राप्त हुआ जहाँ यह अशुभ विकल्प अनिवार्य हो गया । ऐसा मालूम होता है कि जीवभूत आत्मा, जो विकासक्रमसे प्रकट होनेके लिये आत्मपदसे नीचे उतरता है, एक ऐसे अनिवार्य आकर्षणको प्राप्त होता है कि उससे यह अशुभ सम्भावना अनिवार्य हो जाती है—इस आकर्षणको इस जगत्‌में रहनेवाले मनुष्यों-की भाषामें, हम यों कह सकते हैं कि यह अज्ञातकी पुकार है, आपद्-विपद् और अपायमें घुसकर अद्भुत कर्म करनेका एक विलक्षण उत्साह है, असम्भवको सम्भव कर दिखानेकी बलवती इच्छा है, अमितको परिमित कर देनेकी प्रवृत्ति है, अपने-आप और अपने जीवनरूप उपादानसे अद्‌भुत-अपूर्वकी सृष्टि करनेका संकल्प है, परस्परविरोधी भावोंको लेकर उनका कठिन समन्वयसाधन करनेका विलक्षण आकर्षण है—इन बातोंके जो पारभौतिक रूप हैं, जो अति मानवचेतनामें हैं जो बुद्धिगम्य आनुमानिक रूपोंसे विलक्षण परे और महान् हैं, ये ही उस मोहके कारण हैं जिनसे

जीव मूलरूपसे च्युत हुआ। ज्योतिःस्वरूप मूल सत्ताको आसन्न अवतरणकी अवस्थामें जो एक बात अज्ञात थी वह यही थी कि वह जाने इस गर्तकी कितनी गहराई है और इस अविद्या और अचेतनामें, भगवत्तत्त्वसे क्या-क्या हो सकता है। दूसरी ओर एकरूप भगवान्की व्यापक, करुणापूर्ण, अनुमत, स्वीकारोक्ति है एकरूप भगवान्का परमज्ञान जिसे यह पूरा पता है कि यह ऐसे ही होगा; यह विविध वैषम्य जो अभिव्यक्त हुआ है इसका क्रम पूरा करना होगा, इसका अभिव्यक्त होना एक अपरिमेय अनन्त ज्ञानका ही, एक प्रकारसे, एक अंश है, यह ज्ञान कि रात्रिके इस अन्धकारमें डुबकी लगाना जब अनिवार्य हुआ है तब इसीमेंसे एक अभिनव अभूतपूर्व दिवसका निकल आना भी सुनिश्चित है, और यही क्रम है जिससे परम सत्यकी एक विशेष अभिव्यक्ति साधित हो सकती है, परम सत्यके विरोधी भौतिकभाव ही क्रम-विकासकी यात्राका प्रस्थान विन्दु है, यह विषमता ही वह अवस्था है जिनकी मीमांसासे दिव्य भावका उदय होता है। स्वीकारोक्तिके इस स्वरमें उस महान् आत्मयज्ञका संकल्प भी समाया हुआ है जिससे स्वयं भगवान् ही इस अचैतन्यमें इसलिये उतर आते हैं कि अविद्या और इसके मलविक्षेपावरणोंका भार हरण कर लें, अवतार और विभूतिके नाते अवतरित होकर बीचमें दखल

दें और बलि और विजयके द्विविध चिह्नसे चिह्नित मार्गसे इसे पूर्ण सिद्धि और विमुक्तिकी ओर ले चलें। अनिर्वचनीय सत्यका यह बहुत ही रूपकात्मक निरूपण हुआ ? हाँ, पर मानवबुद्धिको वह बात समझाना जो उसके परे है, रूपकोंके बिना कैसे बन सकता है ? परम सत्यके जो परम भाव इन जागतिक घटनानुरूप रूपकोंके पीछे छिपे हुए हैं वे अपने दिव्यातिदिव्य वास्तव रूपमें तभी देखे जा सकते हैं और तभी इन सब पदार्थोंमें सारातिसार तत्त्वरूपसे वे सहज, स्वाभाविक और अन्तर्निहित स्वतःसिद्धिसे अनुभूत हो सकते हैं जब कोई इस परिसीमित बुद्धिके प्राचीरको लाँघकर पार कर जाय और उस समष्टि-चैतन्यकी अनुभूति और ज्ञानको प्राप्त हो जिसमें सब पदार्थोंका बोध तादात्म्यसे ही हुआ करता है। इस विशाल चैतन्यमें प्रविष्ट होनेसे ही कोई उसके आत्मसर्जनकी अपरिहार्यताको और उसके उद्देश्यको समझ सकता है।

यह नामरूपात्मक जगत्‌के सत्तत्त्वकी उस अनुभूतिका निरूपण है जो अनुभूति जीव-चैतन्यको अनाद्यनन्त सनातन सत् और कालके बीचकी सन्धिरेखापर हुआ करती है, जहाँ विकासक्रममें एक और अनेकके बीचका सम्बन्ध स्वयं निर्धारित है; संसारमें जो-जो कुछ होना है वह सब यहाँ कारणरूपसे तो निहित है, पर अभी कार्यरूपसे नहीं है। परन्तु जीवन्मुक्त पुरुष इसके भी ऊपर उठकर

ऐसी स्थितिमें पहुँच सकता है जहाँ सब बातें सुलझी हुई हैं, कोई पहेली नहीं है, और वहाँसे वह परम तादात्म्यके प्रकाशमें इस नामरूपात्मक जगत्को देखता है। वहाँ सब बातें स्वतःसिद्ध सत्तत्त्वमें पहलेसे सुनिश्चित हैं और उस निरपेक्ष चित्स्वरूप और निरपेक्ष आनन्दस्वरूपके सम्मुख स्वरूपतः ही विहित हैं जो चिदानन्दस्वरूप समस्त सृष्ट और असृष्टके पीछे आश्रयरूपसे विद्यमान है। वहाँ सत्-असत् दोनों ही अनिर्वचनीय सत्यके ज्ञानचक्षुसे देखे जाते हैं और दोनों ही वहाँ अपने मुक्त और समन्वित स्वरूपमें रहते हैं। पर वह ज्ञान मानवबुद्धिगम्य नहीं है; उसकी ज्योतिर्मयी भाषा अति दुर्बोध है, उसका प्रकाश भी इतना प्रखर है कि इस विश्वप्रहेलीके भार और अन्धकारसे अभ्यस्त और अभिग्रस्त जीवके लिये उसको यथातथ्य देख पाना या उसके रहस्यको ग्रहण करना असम्भव है। खैर, जो हो, इस तमसाच्छन्न और द्वन्द्वमय प्रदेशको पार करके जब हम आत्मस्वरूपको प्राप्त होते हैं तभी इस पहेलीका पूर्ण आशय समझमें आता है और तभी जीव इस गोरखधन्धेसे विमुक्त होता है। विमुक्तिकी उस परमावस्थाको प्राप्त होना ही इस गोरखधन्धेसे बाहर निकलनेका रास्ता और निःसंशयस्वरूप ज्ञानकी प्राप्तिका एकमात्र साधन है।

परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह मुक्ति और परागति कोई ऐसी ही अवस्था हो जिसमें जीवकी सत्ताका सर्वथा

तिरोभास ही हो जाता हो, नामरूपात्मक जगत्से सदाके लिये सम्बन्धविच्छेद ही हो जाता हो। यह परमावस्था परम ज्ञानसे दीप्त सक्रिय मुक्ति और घनीभूत शक्तिका निर्माण कर सकती है जिससे जगत्की काया पलट जाय और विकसनकी प्रवृत्ति पूर्णताको प्राप्त हो। यह ऐसा उत्थान है जहाँसे कभी पतन नहीं होता पर ज्योति, शक्ति और आनन्दका क्षिप्र या स्वरक्षित अवतरण होता है।

जीवकी शक्तिमें जो कुछ अन्तःस्थित है वही व्यक्त होता है; पर कौन-सी चीज व्यक्त होगी, किस रूपमें होगी, उसमें शक्तियोंका किस विधि सामञ्जस्य रहेगा, विविध तत्त्व उसमें किस रूपसे व्यवस्थित रहेंगे ये बातें उस चैतन्यपर निर्भर करती हैं जो सृष्टि-शक्तिमें व्याप्त है, उस चिच्छक्तिपर निर्भर करती हैं जिसे परमभाव अपने अंदरसे प्राकट्यके लिये बाहर करता है। जीव-स्वभावमें ऐसी क्षमता है कि वह अपनी चिच्छक्तियोंका क्रम बाँध सकता और उन्हें नानाविध बना सकता है और तत्तत् क्रम और विधिके अनुसार अपना जगत् या आत्मप्राकट्यका परिमाण और परिव्याप्ति निर्द्धारित कर सकता है। व्यक्त सृष्टि जिस शक्तिके अन्तर्गत है उसके द्वारा सीमित है और उसी शक्तिके अनुसार इसकी दृष्टि और इसका जीवन होता है। इससे अधिक व्यापक दृष्टिसे देखना, इससे अधिक शक्तिमत्ताके साथ रहना,

अपनी दुनियाको बदल देना इससे तभी बन सकता है जब यह अपने-आपको, इसके ऊपर जो महीयसी चिच्छक्ति है उसकी ओर उद्घाटित कर दे, उसकी ओर चले या उसे नीचे उतारे। यही तो हमारे इस जगत्में चेतनाके विकासक्रममें हो रहा है, इसी प्रयोजनके भारसे उद्यत होकर तो जड़ पार्थिव जगत्ने प्राणशक्ति और फिर मनःशक्ति उत्पन्न की जिनसे सृष्टिको नये-नये रूप प्राप्त हुए, और अब यह मन-बुद्धिके परेकी किसी विज्ञानशक्तिको उत्पन्न करने या अपने अंदर अवतारित करानेमें यत्नवान् है। यही प्रयोजन वह सृष्टिकर्म है जो चेतनाके दो सर्वथा विभिन्न प्रकारके छोरोंके बीच हुआ करता है। एक छोरपर एक निगूढ, चैतन्य है जो अन्तःस्थित और ऊर्ध्वमें है जिसमें प्रकाश, शान्ति, शक्ति और आनन्दकी सारी क्षमताएँ अन्तर्भूत हैं और जो वहाँ सदासे ही व्यक्त हैं और यहाँ व्यक्त होनेका अवसर ढूँढ़ रही हैं। दूसरी तरफ, बाहरकी ओर और नीचे वह चैतन्य है जो चैतन्यके आपात् विरोधी भावोंसे, अचेतना, जड़ता, तामसी विवशता और दुःखार्हतासे, चलता है और उत्तरोत्तर अधिकाधिक ऊर्ध्वसे आने-वाली शक्तियोंको ग्रहण कर विकसित होता है, ये शक्तियाँ इसके द्वारा इसके अभिव्यक्तिकी सदा ही अधिकाधिक उन्नत सृष्टि कराया करती हैं, इस प्रकारसे होनेवाली प्रत्येक

नव-सृष्टि अन्तःस्थित क्षमताको कुछ-न-कुछ बाहर ले ही आती है, और इस तरह ऊर्ध्वस्थित प्रतीक्षमाण पूर्ण तत्त्वका अवतरण अधिकाधिक सम्भव होता है। यह बाह्य व्यक्तित्व जिसे हमलोग अपना 'आपा' कहते हैं, जबतक चैतन्यकी अधःशक्तियोंमें ही केन्द्रित है, तबतक उसके लिये उसका अपना ही अस्तित्व, अपना ही जीवन और उस जीवनका उद्देश्य और प्रयोजन एक बेबूझ पहेली है, एक अभेद्य गोरखधन्धा है। यदि सत्यके रहस्यकी कोई बात इस बहिर्मुख मनःप्रधान मनुष्यको बतायी भी जाय तो उसे वह ठीक तरहसे ग्रहण नहीं कर पाता और शायद कुछ-का-कुछ समझ लेता, उसका दुरुपयोग करता और उसका विरुद्धगामी होता है। इस अवस्थामें जिस दण्डका आश्रय लेकर वह इस लोकमें चलता है वह दण्ड किसी स्वानुभूत निर्धूम ज्ञानज्योतिकी अपेक्षा श्रद्धाग्निका ही, अधिक करके, बना हुआ होता है। इस अवस्थाकी सीमाके परे ज्ञानकी किसी उच्च भूमिकामें जब वह पहुँचता है (जो भूमिका उसके लिये अभी तो परचैतन्य ही है) तभी वह अपनी असमर्थता और अज्ञानके बाहर निकल सकता है। उसके पूर्ण विमोक्ष और पूर्ण बोधका तभी उदय होगा जब वह सीमोल्लङ्घन कर अभिनव परचैतन्य-

सत्ताके प्रकाशमें प्रवेश करेगा । यही वह परमपद है जो योगी-यती-तपस्वियोंका अभीप्सित गन्तव्य स्थान था ।

परन्तु इतनेसे ही, इस जगत्‌में, इस सृष्टिमें कोई परिवर्त्तन नहीं होगा, किसी मुक्त पुरुषके इस संसारसे छूट जानेसे इस संसारमें किसी प्रकारका कोई परिवर्त्तन नहीं होता। परन्तु यदि इस सीमोल्लङ्घनसे न केवल आरोहण बल्कि अवरोहणका भी काम लिया जाय तो यह सीमा जो अभी एक दीवार-सी, एक आड़-सी बीचमें खड़ी है सो परम सत्‌की उन महती चित्-शक्तियोंके नीचे उतर आनेका रास्ता बन जाय जो अभी इस सीमाके ऊपर ही हैं। ऐसा होना पृथ्वीपर एक नवनिर्माण होना है, उन परा शक्तियोंका नीचे अवतरण होना है जो यहाँकी स्थितिको ही उलट देंगी; क्योंकि इन शक्तियोंके उतर आनेसे तमसाच्छन्न पार्थिव अचेतनासे निकलकर मन-बुद्धि के अर्द्ध प्रकाशकी ओर जानेवाली वर्तमान सृष्टिके स्थान-में, आत्मस्वरूपसिद्ध विज्ञानमयी प्रभाके पूर्ण प्रवाहसे युक्त उन्नतसृष्टिका नवनिर्माण होगा । बस, ऐसे ही समुपलब्ध आत्मस्वरूपके पूर्ण प्रवाहमें ही जीव यह जान सकता है कि इस अन्धकार और इसकी इन दुःखादि

अवस्थाओंमें उसके उतर आनेका क्या आशय और क्या तात्कालिक प्रयोजन था और साथ ही इनका (इस अन्धकार और इसकी इन आनुषङ्गिक अवस्थाओंका) सतेज रूपान्तर करके इन्हें भगवद्रूपमें परिणत कर सकता है, मायावृत या बाह्यतः विकृत भगवत्तत्त्वके रूपमें नहीं बल्कि साक्षात् श्रीभगवान्‌के रूपमें ।

जून १९३३

Sri Pratap Singh
Library
Srinagar.

PS
94.5 A 70 I
3430